

दुलंगते दूक्के पके आम

हर्षदेव मालवीय

भूगिका
राजधि पुस्तकालय दण्डन

भारतीय साहित्य मंदिर
फ्रान्स—दिल्ली ६

भारती साहित्य मंदिर,
फलारा, दिल्ली ।

एस० चंद्र पण्डि कम्पनी,
फलारा, दिल्ली ।
मार्ट हीरां गेट, जलनाथ ।
लाल बाग, सख्नऊ ।
प्रथम संस्करण, १९५६
मूल्य २॥)

मुद्रकः
उग्रसीन शिगम्बर
इयिडया प्रिटर्स
एसप्लोनेड रोड, देहली-६

भूमिका

श्री हर्षदेव मालवीय के प्रति मेरा पुराना स्नेह है। उनके लिखे चार रेखा-चित्र मैंने कल और आज के बीच पढ़े हैं। उन्हें पढ़ कर मुझे उनके नाना, मेरे हिन्दी गुरु, प्रातः-स्मरणीय पंडित बालकृष्ण भट्ट की याद आ गयी। वह उन गिने हुए हिन्दी लेखकों में थे जिन्होंने लगभग ८० और ६० वर्ष पहले आधुनिक हिन्दी की नींव डाली थी। शब्द चित्रण में और हास्यरस की ऐसी साहित्यिक चुटकियां लेने में, जो विज्ञ पाठक के मुग्न पर मन्द मुस्कान ला दें, वह रिक्विस्ट थे। वह 'हिन्दी प्रदीप' के जन्मदाता थे। उनका यत्न था कि 'भरणीदीप शरण थिर' रह कर 'हिन्दी प्रदीप-प्रकाश सूरजतादि भारत तम हरे'।

पुत्री को पिता की पार्थिन रामपत्ति में भाग देने की चर्चा इधर दिल्ली की संसद् में बहुत की गयी जिसमें बुद्धि और कुबुद्धि का मिश्रण था। परन्तु पुत्री का भाइयों के साथ पिता की बौद्धिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति में बंटवारा तो आदिकाल से चला आया है। श्री हर्षदेव की माता को भी अपने पिता की बौद्धिक रामपत्ति प्राप्त थी और हर्षदेव ने भी अपनी माता द्वारा वह दायभाग पाया है।

श्री हर्षदेव ने भू-धूति सम्बन्धी प्रश्नों का विशेष अध्ययन कर उस विषय पर एक अच्छी पुस्तक अंग्रेजी भाषा में लिखी है। सम्भवतः वह उसे हिन्दी में भी लिखेंगे। राजनीतिक तथा

(ख)

आर्थिक प्रश्नों पर उनका विशेष अध्ययन है। कांग्रेस की ओर से “आर्थिक समीक्षा” का वह सम्पादन कर रहे हैं। साहित्यिक शब्द चित्रण की ओर इन रेखा-चित्रों में उनका मुझे प्रारम्भिक प्रथास दिखायी दिया। मैं उसका सप्रेम स्वागत करता हूँ। वे अपने में रुचिकर तो हैं ही, परन्तु वे नवीन फल वृक्ष की पहली छोटी उपज के समान आगामी बड़ी फलतों की आशा दिलाते हैं। उनकी प्रतिभा दिन पर दिन विकसित और सुरभित हो यह मेरी कामना है।

नई दिल्ली,
१८-५-५६

—पुरुषोत्तमदास टण्डन

दो साहित्य-मनीषियों का साधुवाद

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

(माननीय सदस्य, राज्य सभा)

बन्धुवर श्री हर्षदेव मालवीय के काई रेखा-चित्र पढ़ने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है और विना किसी संकोच के हम कह सकते हैं कि उन रेखा-चित्रों में हमें एक असाधारण विशेषता मिली है, जो इस समय हिन्दी जगत् में सर्वथा दुर्लभ है। “वे”, “कल्लू” और “चढ़ा बाबू” ये तीनों स्केच अपने अपने ढंग के निराले हैं और उनसे जहाँ लेखक की चित्ताकर्षक लेख शैली का पता चलता है वहाँ उनकी अद्भुत निश्चलेपण शक्ति का भी। भाषा तो मानो उन्हें अपने पूज्य पितामह पं० बालदृष्टि भट्ट से विरासत में मिली है। बहुत दिनों बाद ऐसी जिन्दा जागान हमें पढ़ने को मिली। अब अपने नवयुवक मित्रों से शापा के प्रश्न पर बहरा मुवाहिरा करने के बजाय बस इतना ही कह दिया करेंगे “आप हर्षदेव जी मालवीय के पथ का अनुगमन कीजिये”।

एक बात हमें और भी कहनी है—श्री हर्षदेव जी पर साहित्यिक न्यायालय में एक गम्भीर मुकदमा चल सकता है। उनका जुर्म यह है कि जब साहित्य क्षेत्र में मगहूसियत की बीमारी ऐपीडीमिक फार्म में फैली रही है, वे उस नुसखे की अब तक क्यों छिपाये रहे, जो बिला शक उसकी रामबाण अीणधि है? यह एक एन्टी-सोशल कार्रवाई है—असामाजिक।

(८)

कार्य है और लिटरेरी पिनलकोड में दंडनीय । उस दिन हिन्दी भवन में उनका स्केच 'भुन खलीफा' सुनकर हमें हादिक हर्ष और आश्चर्य हुआ था और साथ ही इस बात का खेद भी कि हम इतने दिनों तक उनकी विलक्षण प्रतिभा से क्यों अपरिचित रहे । उनकी रचनाएँ हमें परशुराम (श्रद्धेय राजशेष्वर बोस) के रेखा-चित्रों की कुछ-कुछ याद दिलाती हैं, यद्यपि परशुराम जी अपनी कला के सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं और किसी नवगुवक का उनकी ऊँचाई के निकट पहुँचने में बहुत वर्ष लग जायेंगे । क्या ही अच्छा हो यदि वे कभी-कभी आर्थिक समीक्षाओं के रेप्रिस्तान को छोड़कर साहित्य क्षेत्र में नवलिस्तान बनाने का प्रयत्न करें । इसकी शक्ति उनमें विद्यमान है । साहित्य-क्षेत्र में उनका प्रवेश निस्सन्देह एक महत्वपूर्ण घटना है ।

६६ नार्थ ऐवेन्यू,
नई दिल्ली ।

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

(माननीय सदस्य लोक सभा)

आयुष्मान् बन्धुवर पं० हर्षदेव मालवीय मेरे पुराने स्नेही जन हैं। उनकी कुटुम्ब-परम्परा विचार-विनय-सम्पन्न है। पुण्य-लोक स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट के बे दौहित्र हैं। अतः साहित्य-निर्माण-सामर्थ्य उनका सहज गुण है।

हर्षदेव जी ने अंग्रेजी में एकाधिक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं। भूमि-विपयक प्रश्नों का उनका अध्ययन गम्भीर, विरत्त और सन्तुलित है। पंचायत प्रथा सम्बन्धी आठ सौ पृष्ठों का उनका अंग्रेजी ग्रन्थ छप रहा है और यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी होगा।

उन्होंने इधर हिन्दी में कुछ ऐता-चित्र लिखे हैं। मुझे वे मार्मिक लगे। इन चित्रों में हर्षदेव जी के वर्णन-सामर्थ्य, उनकी परिवेक्षण-शमता और उनकी चोट करने वाली शैली के दर्शन होते हैं।

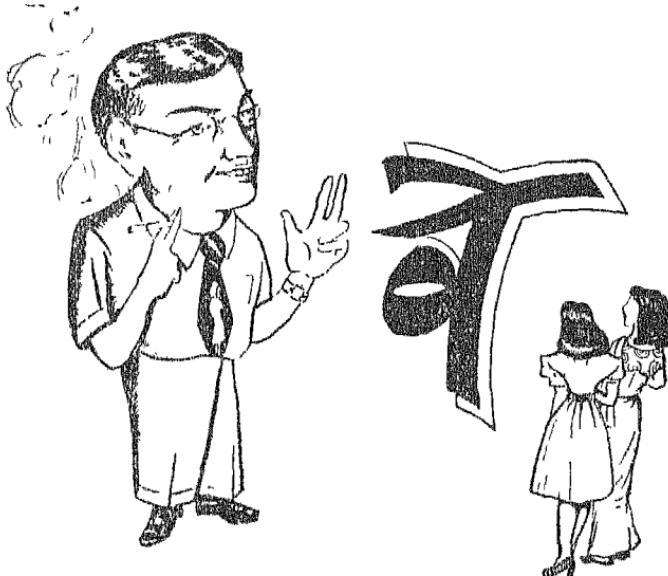
मुझे विश्वास है कि भविष्य में उनका यह साहित्यिक रूप और अधिक निखरेगा।

नई विल्सी,

१८-५-५६

विषय-सूची

१	वे	१
२	कल्लू	११
३	बड़दा बाबू	२६
४	लाला लूलीलाल	..	, ..	४१
५	मुरली बादशाह	५१
६	सुनिया	६३
७	बाबू सूरज प्रसाद चौरासिया	७७
८	पोंगल गुरु आफ वि बर्ड	८७
९	पुराने	१०४
१०	नारायण और ताराचन्द	११६
११	भृत खलीफा	१३२
१२	बौलणा	१५०



वे सुन्दर सलोने गोरे बड़े डेलीकेट हैं। विदा होते समय
वे एक हाथ उठाकर अँगूठे के बगल की दो अँगुली एक खास
लहजे से हिलाते हैं, “टा टा” उनके मुख से और कभी-कभी
“बाई बाई” भी उनके श्रीमुख से विदाई के समय निकलता
है, और कभी वे “चीरियो” भी कहते हैं (जिससे मुझे बचपन
की याद आती है जब मेरी बुआ मुझ रोते को “आव चिरं,
ग्राव” कहकर चुप कराती थीं), कभी-कभी फाँसीसी जुबान
का जुमला “ओ रिवौ” जैसा भी कुछ वे कहते हैं—सच में
उनके बड़े एटीकेट हैं।

उनकी नाक मुकीली है, ओठ कटीले हैं, आँखें चमकीली
हैं, जिन पर खालिस शीशा वाला चश्मा है, फ्रेम नहीं है, और
वह शीशा सुनहली कमानी पर थमा हुआ उनके चमकदार

व्यक्तित्व में चार चाँद लगा देता है। पतलून उनकी धुली सफेद दूधिया रहती है, कमीज का कलफ लाजवाब होता है, बाहें हाथ की दुहनियों तक चढ़ी उनकी गोरी कलाई के सौदर्य की छटा छटकाती है और बाएँ हाथ की कलाई में चमकती सुनहरी धड़ी, सुनहले ही स्ट्रैपों में बँधी उनके ऊँचे कल्वर की घोषणा चहुँ ओर करती है।

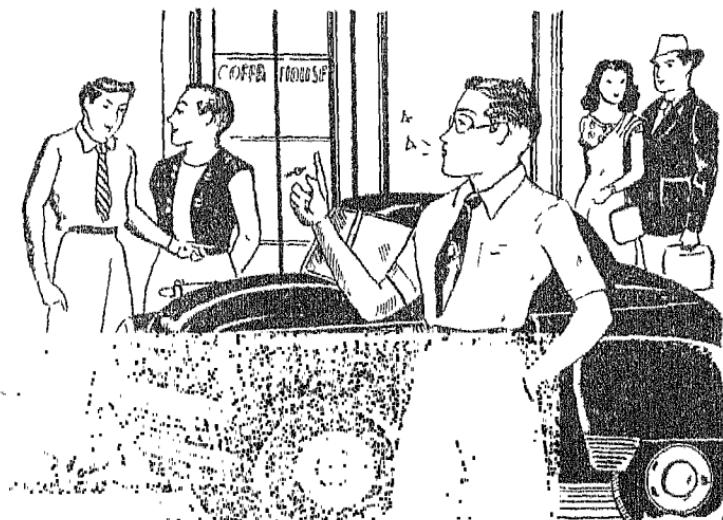
उनका पहला परिचय कैसे हुआ, उसकी भी एक लघुकथा है। मैं नई दिल्ली के एक कॉफी हाउस के सामने से निकला। हाउस के बाहर, वराँडे में, बदस्तूर भीड़ थी, लोग पान खा रहे थे, सिगरेट फूँक रहे थे। वहीं मुझे जुगुल जी मिले। छूटते ही मैंने पूछा—

“क्यों भित्र, क्या तुम भी कॉफी हाउस इन्टलेक्चुअल हो रहे हो क्या ?”

पहले तो वे सकपकाए। उम्र में वे छोटे हैं, उनके बड़े भाई मेरे कलासफेलो थे। पर हमने उनको सदा बराबर का ही समझा है, और प्रारम्भिक भिन्नक के बाब वे सदैव की नाई खुले। वे नौकरी की तलाश में हैं, खाली रहते हैं, वक्त काटना होता है, खर्च से तंग रहते हैं, कुछ दोस्त हो गये हैं जो कॉफी पिलाते हैं और गप्पे करते हैं। उन्हीं दोस्तों में से एक का वह इंतजार कर रहे थे।

इतने में वे आ गये। सन्न से आकर उनकी छोटी आस्टिन रुकी, धड़ से उन्होंने मोटर का दरवाजा खोला और बाहर निकले, सड़ से उन्होंने मोटर में से चाबी निकाली,

धम्म से उन्होंने मोटर का किंवाड़ बन्द किया और ठीक अबाउट टर्न हुए। ताली उनकी सफेद उँगलियों में झूप्पे में लगी तेजी से नाच रही थी, वे भूंह से सीटी बजाते मन्द-मन्द मुस्का रहे थे। दूर से ही वे भाँप गये कि जुगल जी मुझ से



बातें कर रहे हैं पर मेरी उन्होंने कोई नोटिस नहीं ली। जुगल के पास आकर उन्होंने "हलो जुगल" किया, तब जुगल जी ने उनसे मेरा परिचय कराया, तब कहीं उन्होंने मेरी ओर निगाह की। और तब सब में बड़े ऊचे कल्चर से, तहजीब से वे मुझसे बोले। अन्दर चलकर काँफी पीने का आग्रह किया गया, टालते न बना, हम काँफी हाउस में चले गये।

बरबाजा खुलते ही वह निराली दुनिया दिखाई पड़ी, अगणित कंठों से एक ही समय निकलने वाली विविध वाणियों

से हाउस का गगन आच्छादित था, और उसी गगन में पचासों सिगरेटों से धाराप्रवाह निकलने वाले धुएँ ने अपना योग दिया ही था, और समझिए कि वह पूर्णतः इस लोक से कुछ विभिन्न लोक प्रतीत हुआ । और मैंने देखा कि दरबाजा खुलते ही वे ऐसे हो गये जैसे वे किसी को देखते ही न हों, उनको जैसे पता ही न हो कि वहाँ अगणित महानुभाव विराजमान हैं । सीटी बजाते, बड़े अलमस्त से लगते हुए, कुछ उचक-उचक कर बड़ी आत्मविश्वासी-सी चाल से वे एक बेज की ओर अपसर हुए । बड़ी ही मधुर मुस्कान हँसकर उन्होंने मुझे कुर्सी पर बैठने को कहा, जुगल भी बैठे, वे भी विराजे । कुछ ही मिनटों के अन्दर दो-तीन मिन्ट और आ गये, “हैलो” हुआ, सबसे उन्होंने बैठने को कहने की शाइस्तगी बर्ती और सब बैठ गये । कॉफी का आर्डर हुआ, सिगरेटों के कश छढ़े, और बातें शुरू हुईं ।

दिन के बारह बजने के पहले का बक्त था, स्वभावतः उस “मानिंग” के अखबारों में छपी खबरों से शुरूआत हुई । मिनटों के अन्दर बात की लपेट में लगायत नेहरू से बेरिया और मालेन्कोव और चचिल और आइसनहोवर और माश्चो व चाश्चो, प्रायः सब ही आ गए । फिर सहसा वे बोले :

“अमें हूँ इज दिस फेलो निराला ? सम सूर्या कात्ती-तिरीपाठी ? अमें यार, बड़ा रुपया पा रहा है भैया ।”

मिन्टों ने बताया कि बड़े भारी कवि हैं, बीमार हैं, सरकार उनके स्वास्थ्य के लिए चिन्तित हैं, देश चिन्तित है,

इत्यादि । पर वे कुछ संग्रह से होते न प्रतीत हुए, कहा “भई देखो, यह हिन्दी कम्बलत नेशनल लैंगुएज क्या हुई कि हर हिन्दी पोथेटास्टर^१ बस बड़ा प्रेट हो गया है । अमां, अच्छा यह काँग्रेस का और हिन्दी का राज हुआ है ।”

बहरहाल बात पलटी । दूसरे टापिक आए, एक निषटा, दूसरा आया, होते-होते सिनेमा पर बात आकर टिकी । वैसे तो वे सब ही बातों पर राय रखते पाए गए, कोई ऐसा विषय न था जिस पर वे कुछ न कुछ राय कायम किए न बैठे हों, पर चलचित्रों की दुनिया के तो वे प्रचण्ड ज्ञाता सिद्ध हुए । और सो भी हिन्दुस्तानी चित्रों के कम, अंग्रेजी चलचित्रों के अधिक । साथ में बैठे अन्य मित्रगणों की भी जानकारी कुछ कम नहीं थी । चलते-चलते बात जाने कैसे इस पर अटकी कि आज अंग्रेजी रजतपट पर कौन सर्वथेठ अभिनेत्री है । जहाँ बेरिया और मालेन्कोव के पक्ष-विपक्ष का समर्थन या विरोध जैसे न सुलझ सकने वाले मसलों पर भी उस गोष्ठी में मतभेद दूर हो गया, वहाँ यह लगा कि इस अभिनेत्री के प्रश्न पर तो परस्पर विरोधी विचारों में वह खाई है जो मुँद नहीं सकती । एक महोदय “जानी बेलिंडा” नामक खेल की अभिनेत्री जेन वाइमन के प्रचण्ड समर्थक थे तो हमारे वे इन्हिं बर्जमन के घनघोर प्रशंसक थे । और इस विषय पर होने वाले विवाद से उनका व्यक्तित्व और भी निखरा ।

जेन वाइमैन वाले ने कड़क कर कहा कि वह अपनी

^१ ‘पोथेटास्टर’ अर्थात् निम्न कोटि का कवि ।

तीसरी पिक्चर में ही श्रकेडमी एवार्ड पा चुकी है, एसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलता । इस पर वे बड़ी जीट उड़ाने जैसी हँसी हँसे, एक बुजुर्ग दुनिया-देखा हुआ जिस जुबान व लहजे से छोटे से बातें करता है उस तरह बोलते हुए उन्होंने कहा कि यह कोई खास बात नहीं, और फिर इन्हिंड बर्जमन तो कई बार एवार्ड पा चुकी है, और फिर कड़के :

“अमां, तुमने ‘जोन आँफ आर्क’ से बढ़कर कोई पिक्चर देखी है ? और जोन यही इन्हिंड थी । उसकी एक्टिंग तो बस कमाल है, वाइमन तो कम्स नो व्हेयर नियर ।”

जेन वाइमन वाले ने कुछ इशारतन इन्हिंड बर्जमन के चरित्र की ओर इशारा किया । अन्य महानुभाव यह समझ न पाए तो उन्होंने स्पष्ट किया । उन्होंने कहा “भाई साफ-साफ क्यों नहीं कहते हो कि इन्हिंड ने अपने हसबैन्ड आर्सन वेलीस को तलाक देकर अपने नए खेल के इटालियन डायरेक्टर रासेलिनी से शादी कर ली है । इन्हिंड का आखिरी पिक्चर आईलैंड आँफ कैप्री में बना था और वहाँ उसकी रासेलिनी से मुहब्बत हो गई । तो यह क्या बात है ? अमां, अपना-अपना तरीका होता है, कल्चर होता है । वहाँ की ओरतें हमारे यहाँ की ओरतें की तरह घर में नहीं धूसी रहतीं । बस ! भाई साहब, किसी शायर ने क्या खूब कहा है :

“तहजीबे मरारिबी में है बोसा तलक मुआफ,
इसके आगे बढ़े तो शरारत की बात है ।”

कहकहे लग गये, जेन वाइमन वाले को परास्त होना

पड़ा । वे अपनी विजय पर स्पष्टतः प्रसन्न हुए । कहना न होगा, अब तक काँफी का पहला दौर खत्म हो चुका था, विजयोल्लास में उन्होंने बेयरा को बुलाकर एक दौर काँफी का और हुक्म दिया । काँफी आई पर साफ था कि अब टापिक सब ही प्राप्त: निषट चुके हैं, आखिर उनकी भी एक सीमा होती ही है, कोई बात जमती न दिखाई पड़ी । काँफी हाउस के उस टेबल की गोष्ठी में अब बिलकुल चुप्पी का दौर आने लगे । मैंने उनकी शायरी की बड़ी तारीफ की थी और वह यह तो समझ ही गए थे कि मेरे ऊपर उनके व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ चुका है । शायद उसी का और प्रखर रूप व्यक्त करने के लिए, कन्खियों से भेरी और देखकर, फिर ऐसा रुख लेकर जैसे मेरे वहाँ बैठने का उनको आभास ही न हो, पर स्पष्टतः मुझे ही सुनाने के लिए उन्होंने एक ठंडी साँस भरी और कहा :

“उनके दिल का भी वही हाल, वही चर्चा की चाल ।

कौन बैठा रहे आहों का असर होने तक ॥”

कहना न होगा, इस पर भी उनको सब की ही बाहवाही मिली । पर अब तक गोष्ठी बरखास्त होने का घटत हो गया था, उन्होंने बिल श्रदा की, बेयरा को चबन्नी बरक्षीश दी, उसने जोर का सलाम मारा, और हम सब टेबल से उठे । उठते-उठाते उन्होंने फिर एक सुनाई :

“जिसमें हासिल सफून हो दिल को,

वही घड़ी उम्र भर नहीं आती ।”

काँफी हाउस के बाहर आकर उन्होंने सबको पान खिलाया ।



“उनके दिल का भी यही हाल, वही चर्च की बाल।
कौन बैठा रहे आहों का असर होने तक ॥”

उन्होंने अपने लिए और जेन वाइमन वाले के लिए तो “मिठा पान” लगवाया और मैंने, जुगल ने तथा और साथियों ने इलायची सुपारी वाला पान खाया । बिदा होते समय उन्होंने सबसे ही पूछा कि कहीं “लिफ्ट” चाहते हो । सबने ही इन्कार किया, शायद सब ही उनकी इतनी देर की सोहबत से ओतप्रोत हो चुके थे । मेरी पहली मुलाकात थी, मुझ से बड़ी ही शाइस्तगी से पेश आए, “साहब आपसे मिलकर निहायत खुशी हुई,” ऐसा करमाया, और फिर मिलने के लिए कहकर वही ‘टाटा’ और ‘बाई, बाई’ करते बिदा हुए ।

पता लगा कि वे उत्तर प्रदेश के ही हैं, किसी पश्चिमी जिले के, पिता जी सेशन जज वर्गरह कुछ थे, अब रिटायर्ड हैं, और साहबजादे ने हाल में ही एम. ए. किया है । विद्यार्थी जीवन में वे पहले तो सोशलिस्टों के साथ थे, बाद में कुछ कम्यूनिस्टों का प्रभाव पड़ा, और फिर वे एम. एन. राय को भारत का सबसे महान् बुद्धिजीवी समझकर और सबों के आलोचक हो गए ।

कभी-कभी मुलाकात हो जाती है, पर कॉफी हाउस की सोहबत एक ही दो बार और हुई । वैसे मैं उनको अक्सर नई दिल्ली के कनांट प्लेस के बरांडों में टहलते देखता हूँ । और मैं दूर से खड़ा बस उनको देखता ही रह जाता हूँ । वे यह माने बैठे हैं कि वे बहुत ही अलौकिक-से व्यक्तित्व के आदमी हैं, और उनकी निश्चित धारणा है कि जिधर से वे निकलते हैं, सबकी निगाह बरबस उनकी और आकृष्ट हो जाती है ।

तब वरांडे में भाड़ू लगानेवाली वह भंगिन, या दूर से चली आनेवाली वह परकटी भेमसाहब, या लिपस्टिकी सभ्यता वाली वह साड़ीधारी महिला, या वह पनवाड़ी, या उधर से आनेवाले वे सूटेड-बूटेड बाबू साहब, सारांश में सब ही अनायास उनकी और देखने लगते हैं। कृष्ण भगवान् के लिए कहा जाता है कि जिधर से वे निकलते थे सब उनको देखने लगते थे। इधर इस कलि-काल की बीसवीं सदी में न बोलने वाले चलचित्रों के जमाने में रुडोल्फ वैलेन्टिनो नामक एक ग्राति सुन्दर इटालियन श्रमिनेता हुआ जिसके निकलने पर सब ही देखने के लिए झूम पड़ते। वास्तव में उससे प्रेम करनेवाली श्रमिनेत्रियों की संख्या इतनी बढ़ी और उससे ईर्ष्या की भावना इतनी प्रज्वलित हुई कि उसे किसी ने विष दे दिया। और उसकी मृत्यु के संबाद को सुनकर सैकड़ों ने जहर खाकर अपनी जान दे दी। वे रुडोल्फ वैलेन्टिनो के बड़े प्रशंसक हैं, उसके जीवन का उपर्युक्त वर्णन उन्हीं से हमने सुना। हम नहीं कह सकते कि क्या वे अपने को रुडोल्फ वैलेन्टिनो का ही रूप तो नहीं समझते। हम यह भी नहीं कह सकते कि वे आगे क्या करेंगे। फिलहाल तो वे काँफी हाउस के इन्टले-बचुअल हैं। और जो भी हों, अपने ही हैं, हमारे और आपके ही खून-मांस और हाड़-चाम के हैं।



कल्लू

कल्लू शूर थे, वीर थे, योद्धा थे, महाबली पराक्रमी थे, दिग्गज और महान थे, और भीमकाय तथा भुजंग काले थे। वे हरे-भरे, प्रसन्न व सुखी, पचासी वर्ष की परिपक्व अवस्था में इस संसार से बिदा हुए। दिवंगत आत्मा का वह पार्थिव शरीर जब अपनी इहलोक की अन्तिम यात्रा में चला तो उसके प्रति अपना आदर और सम्मान प्रगट करने हुजारों आदमी चले, बड़े-छोटे, अमीर-गरीब, सब ही। उस दिन धंटे बजे, घड़ियालियाँ बजीं, संख भी फूँका गया, उन्हीं के नगर का हाहाकारी बैड़ भी बुलाया गया और साथ में सर्प के समान मुड़ी-चुड़ी कई गज की पिपहरी जैसी किसी दस्तु ने उस तुम्हल ध्वनि में बीच-बीच काफी लम्बी “पी पी पी पी पी……” ध्वनि निकाल कर प्रभावशाली योग दिया। पैसा लुटाया गया, बताशे लुटाए गए और, संक्षेप में, वह सर्वथा स्मरणीय दिवस हो गया। बतसिया मरघट तक साथ-साथ गई, एक बार भी न रोई, पर जब चिता पर कल्लू का पार्थिव शरीर भस्मीभूत हो गया और जब भीरु ने उनके कपाल पर बाँस से प्रहार कर कपाल-

क्रिया की तो वह अपने को न रोक सकी, 'अरे मोर बाबू,'
ऐसी बड़ी वेदनापूर्ण चीतकार उसके मुख से निकली और उसे
गश-सा आ गया ।

कल्लू ऐतिहासिक प्राणी हो गए हैं, और यद्यपि उनको
मरे काफी बर्ष गुजर चुके हैं, पर लोग शब्द भी उनकी बातें
करते हैं । कहा जाता है कि लब्बू खलीफा के अखाड़े में वे एक
साथ चार जवानों को जोर कराते थे । यह भी प्रसिद्ध है कि
अखाड़े की मशक्कत से हरे होने के बाद वे अहिराने बाले
मैदान के कुएँ पर नहाते थे तो कम से कम पचास, और नहीं
तो पचहत्तर और यहाँ तक कि सौ मोट पानी उन पर उँड़ेला
जाता था । बहुत बड़े थे वे मोट और दो बलशाली बैल
उनको खींचते भी थे । फिर यह भी लोग व्यापक रूप से
जानते हैं कि जब उसी मैदान में सिद्धू बकरिहा की घरवाली
बकरी चराने जाती थी तो कल्लू वहीं खड़े एक पीपल के पेढ़
की काफी मोटी मजबूत डाल को हाथ उठाकर खींचकर भुका
देते और जितनी देर बकरियाँ पीपल के पत्तों का रसास्वादन
करतीं उतनी देर कल्लू की सिद्धू बकरिहा की घरवाली से
बातें होतीं । उनके महाबल के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता
है कि जब एक बार सदैव की भाँति, वे डेढ़ बजे रात दूकान से
घर लौट रहे थे तो सिर्फ लंगोटी लगाए, तेल में डूबे हुए,
और बड़े मजबूत, विराट, तीन भागते हुए चौरों को उन्होंने
लालटेन फेंककर पकड़ दबाया था और जब तक पुलिस न
आई न छोड़ा ।



कल्लू पीपल के पेड़ को ढाल भुक्ता देते और जितनी देर बकरियां पत्तों का रसाखादन करतीं कल्लू सिद्ध बकरिहा की घरबाली से बातें करते ।

उनकी आवाज, उनका गला भी प्रसिद्ध था । यह सामान्य-रूप से स्वीकृत था कि वैसी आवाज का नरेटा आसपास बया, दो, चार, दस शहरों में नहीं मिल सकता था । जैसा कहा जाता था, किसी के नरेटा में एक पुरबी बाँस धंसाया जाता है तो कल्लू के मानों पाँच पुरबी बाँस धंसाए गए थे । वास्तव में उनके विषय में मेरी प्रथम जानकारी उनके इसी प्रसिद्ध गले से सम्बन्धित है । मैं बचपन में गुलई मामा के साथ जात-बिरादरी में जेवनार खाकर काफी रात हुए लौट रहा था, यही नौ-दस बजे, तो जब अहिरवन की कुलियन से निकला तो एक आवाज सुनाई पड़ी :

०

“अबे तोका बतसिया का बुलावै कहा रहा न, मौसी के हियां खेलत होई ।”

उत्तरस्वरूप “हूँ हूँ ५ ५ ५ ५ ५” की आवाज सुनाई पड़ी, स्पष्ट था कि कोई नींद में पड़ा है । फिर उसी पहली आवाज ने और चढ़े स्वर में कहा :

“अबे जात है कि फिन बताई ।”

तब दूसरी नींद से भरी आवाज ने कहा :

“अरे हम सूत्रे हैं, कौन जाय उतनी दूर ।”

इस पर सिंहगर्जन के समान, या कड़कते बादलों के समान, अहिरवन की उन कुलियनों को कॅपायमान करती हुई जबरदस्त ललकार सुनाई पड़ी :

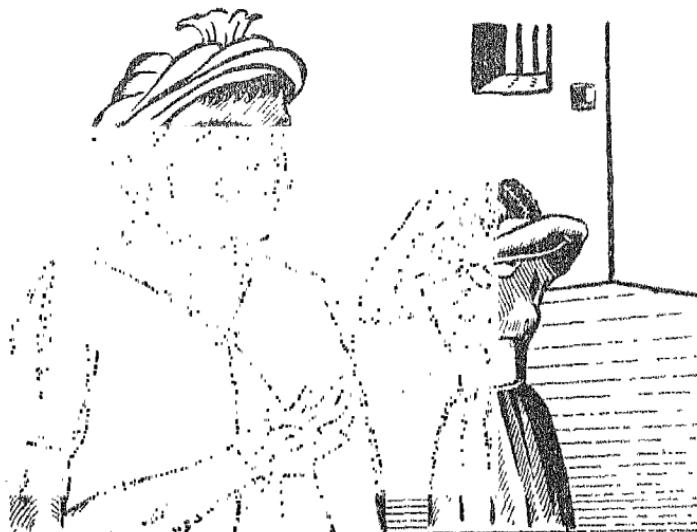
“अब तो मौसी का घर कोई लंघन है का ? ”,

यही कल्लू की आवाज थी और संसार की उस अनुपम नगरी लंडन के अस्तित्व का पहली बार पता हमको कल्लू की ही बदौलत हुआ । बतसिया कल्लू की लाडली और एक मात्र सन्तान है । कल्लू ने बतसिया पर अपने को न्यौछावर कर दिया । बतसिया उनकी आँखों की पुतली, उनके कलेजे की टुकड़ी, उनके अस्तित्व का कारण, उनकी सब कुछ हो गई । बतसिया के प्रति उनके स्नेह को लेकर, और उनके अतुलित पराक्रम की ही हल्की-सी झाँकी देती हुई एक कहानी प्रसिद्ध है । कहते हैं कि बतसिया जब छोटी थी तो एक गौरेया फुदकती हुई घर के आँगन में आ गई । वह उड़ न सकती थी, बतसिया ने उसे पकड़ लिया, और बतसिया उस गौरेया पर दीवानी हो गई । कल्लू ने देखा तो हँसे, कहा—“सुगा-उगा पाला जाता है कि गौरेया ।” पर बतसिया जिसमें खुश रहे उससे वे भला क्यों रोकने लगे । एक दिन वे घर पर बैठे थे, गौरेया फुदकते-फुदकते जाने कहाँ से उनके पास आ गई, उसे उन्होंने अपनी विशाल हथेली में पकड़ लिया । चन्द मिनटों बाद ही गौरेया को हूँढ़ती बतसिया आई, उसे छकाने के लिए कल्लू गौरेया को हथेली में ही लिये रहे और चिढ़ाया :

“तोर गौरेया भाग गई, तोर गौरेया भाग गई ।”

तब बतसिया जोर से रोई तो कल्लू ज्यादा देर अपने को न रोक सके, कहा “भागी नहीं रे, यह है”, और इतना कह

हथेली खोल दी । पर यह क्या ? कल्लू की विशाल हथेली में दबकर तो वह मर गई थी ।



बतसिया बहुत रोई, बेहद रोई, तब कल्लू ने उससे कह दिया कि, “धुत पागल, औरे गौरेया क्या, हम तोरे लिए सुगा लैंवे ।” बतसिया न मानी और उसी बक्त उसे गोद में लेकर कल्लू कहीं से एक सुगा लाए । बतसिया खुश थी, कुछ ही दिनों में एक और गजब हो गया । लाड-प्यार में बतसिया ने सुगों को दाल-नोटी खिला दी, नमक सदैव तोतों के लिए बंजित है, उसे खरवा हो गया, उसके पर भरने लगे, लुँडा-मुँडा-सा होने लगा । और एक दिन रात कड़ाके की सर्दी पड़ी, पिंजड़ा ग्रामगन से हटाकर अन्दर बल्लान में टाँगता लोग भूल गए, रात भर में सुगा सर्दी से ऐठ गया । सुबह बतसिया

ने देखा तो रोई, तब कल्लू ने समझ लिया कि सुग्गा मरा नहीं है, सर्दी से ऐठा है, सूख ही तो गई, तब गरम हो रहा था, उसी पर उसे डाल दिया कि गर्मी पा ठीक हो जायगा । पर स्पष्टतः कल्लू को गर्मी का ठीक अन्वाज न लगा और सुग्गा बहीं ढेर हो गया । तब फिर बतसिया ने गहरा विलाप किया तो खीभकर कल्लू ने उसी दिन तीन-चार तोते, दो काकातुआ, कई लाल और एक तीतर भी ला दिया ।

यह तोते, काकातुए, लाल, तीतर, इत्यादि, तब से सदैव ही कल्लू के मकान पर बने रहे । और मजबूत पिंजड़े में बन्द और स्वच्छ सफेद कपड़े से लपेटे तीतर बाले पिंजड़े को कल्लू प्रायः रोज ही अपने साथ दूकान से जाते और ले आते । दिन में अनेक बार, दूकान पर कार्याधिक्य कुछ कम होता तो वह पिंजड़े की ओर देखकर कहते, “बुई बेटा, बुई बेटा ।” यह “बुई बेटा” भी गले के काफी निचले हिस्से से बबा हुआ सा निकलता और तब तीतर भी “बुई बुई बुई……” “बुई बुई बुई……” कहकर कल्लू के प्रति अपनी स्वामि-भक्ति का परिचय देता ।

कल्लू को दूकान पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई । वह उनके घर से लगभग पौन या एक फलांग की दूरी पर है, यद्यपि रास्ते में कई गल्ली-कूचे पड़ जाते हैं । पर इतना है कि जब कभी कल्लू दूकान पर बैठे-बैठे ही बतसिया को आवाज दे देते हैं तो गलियों और मकानों की छतों और छपड़ों को पार करती वह श्रावाज घर तक पहुँच ही जाती और बतसिया

दौड़ आती । जब तक कल्लू के पिताजी जीवित थे कल्लू ने बड़ा ऐश किया । अपने पिता के जमाने की बातें वे जीवन के अंतिम दिनों तक सुनाते रहे । पिताजी उनकी कसरत-कुश्ती से प्रसन्न रहते थे और जब-जब कल्लू कोई दंगल मारते तब-तब वे महाबीरन पर एक रुपए का लड्डू चढ़ा देते । दिन में कल्लू यदि कसरत-कुश्ती इत्यादि से फुर्सत पा दूकान आ जाते तो भला-भला, नहीं तो पिताजी कभी कुछ कहते न थे । हाँ इतनी जरूर उनकी आज्ञा थी कि ग्यारह, बारह बजे रात दूकान जरूर आओ । वह दूध, मलाई और दही की दूकान थी, और रात को कल्लू को दूकान पर बुलाने का मतलब यही होता था कि दिनभर की बिक्री के बाद और सबेरे को दुकानदारी के लिए तीन मड़ना दही जमाने के बाद जो कुछ चार-पाँच सेर दूध बचता, और आध सेर, तीन पाव जो कुछ मलाई बचती, वह सब पिताजी उनको खिला देते ।

वास्तव में लोगों का निवित मत है कि इसी रात के दूध और मलाई ने कल्लू को वह भीमकाय रूप और वह पराक्रम दिया जिससे वे इतने प्रसिद्ध हुए । काफी अवस्था पाकर उनके पिता मरे, तब तक कल्लू तीस पार कर चुके थे और तब ही वे नियमित रूप से दूकान पर बैठने लगे । डंड जरूर वे खींचते रहे पर कुश्ती और अखाड़ा तो छूट ही गया । प्रातः ही मशक्कत के बाद नहा-धोकर, कल्याणी देवी को मस्तक टेकते हुए, और उन्हीं के प्रसादस्वरूप काफी बड़ा साल ठीका मस्तक पर लगा, कल्लू दूकान पर पहुँच जाते । अभी तक वे

निःसन्तान ही थे, बतसिया तो बहुत बाद में, उनके चालीस पार करने के बाद, बड़ी मानता-मनौती के बाव प्राप्त हुई थी। अतः, कहते हैं, रात को तीन भड़ना दही जमाने के बाव पूर्ववत् ही, कल्लू बचा तीन-चार सेर दूध और आध-सेर, तीन-पाव मलाई साफ कर देते थे। और जब बतसिया हो भी गई तो वह बेचारी लड़की क्या बचा दूध-मलाई खाती, साठ और सत्तर की उम्र पहुँचते तक कल्लू का यही क्रम रहा।

धीरे-धीरे बतसिया बड़ी हुई। अब उसके विवाह का प्रश्न आया, योग्य वर ढूँढ़ा जाने लगा। पर कई साल बीत गए, बिरादरी दालों ने कल्नू से दबते-दबते कहा भी कि सथानी लड़की को ज्यादा दिन घर नहीं रखना चाहिए, पर कल्लू ने एक शर्त बना ली थी, वह उससे टस से मस न हुए। उन्होंने साफ कह दिया कि वे अपनी बतसिया को अपने सामने से नहीं जाने देंगे, विवाह उसी से करेंगे जो दामाद उनके घर आकर रहने को तैयार हो। लोगों ने कहा कि 'ससुर के घर जमाई कुत्ता', कोई ऐसा न मिलेगा। कल्लू ने साफ कह दिया, 'न मिले न सही, अविवाहित ही सही, वे बतसिया को नहीं जाने देंगे।' बिरादरी के लोगों ने एक दिन खीभकर यहाँ तक कह दिया कि "यह देश कामरू-कमच्छा थोर का आय जहाँ कहत हैं कि मेहररुम्मन मर्दन का भेड़ा बनाय के रख लेती हैं। कौन मर्द तुम्हारे यहाँ भेड़ा बने आई।" पर कल्लू टस से मस न हुए।

कह दिया जाय कि यह काफी प्रसिद्ध हो गया था कि

कल्लू को एक तो पिताजी से ही काफी रकम मिली थी, फिर उन्होंने भी काफी कमाया। अफवाह यह भी थी कि कल्लू की रकम उसी दूकान में कहीं गड़ी है। वास्तव में जिन महोदय के मकान में कल्लू ने दूकान किराए पर लिया था, उनकी एक बिगड़ी औलाद ने मकान के गलियारे से कल्लू की दूकान में आने वाले दरवाजे को रात को तोड़ कर काफी खोदाखादी की भी पर कुछ हाथ न लगा। मकान-मालिक के औलाद द्वारा चोरी का यह प्रयास सबों को मालूम हो ही गया, पर यह भी लोग जानते हैं कि कल्लू ने उसके बारे में न तो एक बात मकान-मालिक से कही, न उस औलाद से कही और न दूकान ही छोड़ी। अस्तु ।

बतसिया से विवाह की बात करने बहुतेरे कल्लू के पास आए। आने वालों में ऐसे भी थे जहाँ से रेलगाड़ी का रास्ता दो घंटे का है और ऐसे भी थे जहाँ से रेल को आने में चौबीस घंटे लग जाते हैं। पर उसी शर्त पर आकर मामला खत्म हो जाय कि मेरे घर आकर रहना होगा। पर अन्त में कल्लू सफल हुए। भीरु मिल ही तो गए। वे थे खानदानी पर घर बिगड़ चुका था। कल्लू ने उनको सर आँखों पर बैठाया। भीरु की तरफ का भी लर्च किया, अपनी बतसिया की तरफ से तो किया ही। बड़े धूमधाम से विवाह हुआ। उनकी बिरादरी में ऐसी धूमधाम कम देखी गई। और भीरु को उनके घर में घुल-मिल जाने में देर न लगी। भीरु ने बाद में कहा भी कि भगवान देता है तो छप्पर फाड़कर देता है। और भीरु धीरे-

धीरे कल्लू का सब ही भार वहन करने लगे । कल्लू के दो नाती हो गए, एक नतिनी हो गई । कल्लू उनमें रहे रहने लगे और रोज सुबह वे जब कल्यानी जाते तो देवी को श्रपने सुख के लिए हृदय से धन्यवाद देते ।

वैसे तो मेरे व कल्लू के बीच घनिष्ठता होने का प्रश्न ही न उठता, वे मेरे घर के बड़ों से भी बड़े थे, पर कुछ घटनाक्रम ने मुझे उनके बहुत समीप पहुँचा दिया । मेरा घर उस सब्जी वाली गली में, उनकी द्वाकान के ठीक सामने था । उन दिनों मैं कालेज में पहुँच गया था । एक दिन पुलिस ने मेरे घर छापा मारा पर कुछ हाथ न लगा । पुलिस के उस छापे की भूहले-टोले में बड़ी चर्चा रही और उसी के बाद जब मैं कल्लू के सामने से निकला तो मुझे साफ-साफ उनकी मेरी तरफ निगाह फर्क लगी । एक ही दो महीने के अन्दर पुलिस का दूसरा धावा हुआ पर अभी भी वे खाली हाथ ही गए । और अब मेरी तरफ देखने वाली कल्लू की निगाहों में और भी फर्क दिखाई पड़ा । आते-जाते अब कल्लू कुछ आवाज भी फेंकने लगे । एक दिन कहा, “बड़े डामिल आदमी लगते हो भैया, हालांकि अभैन नन्हे से हो ।” मैं हँस दिया । एक दिन और कुछ देर रात से घर आया तो कल्लू न माने, एक सेर भर दूध और पाव भर मलाई सामने रख ही तो दिया । मैंने कहा कि कल्लू हजम न होगा, पेट गड़बड़ा जायगा । इस पर कल्लू आश्वर्यचकित हुए, बोले :

“अरे नयी जवानी माँझा ढील । अरे इतना दूध मलाई

न खाओगे तो ई अंग्रेजवन का हराओगे कैसे ? और पिस्तौल कैसे छूटेगी ? ”

हरे ! हरे ! मैं तब समझा । कल्लू समझे बैठे थे कि पुलिस मेरे यहाँ पिस्तौल की तलाश में आई थी । और एक दिन कल्लू से न रहा गया । वही रात देर हो गई थी, सड़क सन्नाटी थी । कल्लू ने कहा :

“भैया, तुम्हारे जीवट से हम हारी मानते हैं । बड़ा डामिल काम करते हो । फाँसी डामिल का तुमको डर नहीं । पर देखो ! ई पुलुस वाले तुमरे यहाँ आते हैं, हमारे यहाँ तो आवेगे नहीं । तुम पिस्तौल हमको दे दो, हम यही भट्ठी के नीचे खन के गाड़ बेब, उनके बाप-दादा नहीं पाएँगे ।”

हमने बहुतेरा समझाया कि कल्लू तलाशी कुछ ज़ब्त किताबों, कुछ नाजायज पत्रों के लिए आती है, पिस्तौल-विस्तौल के लिए नहीं, पर वे काहे को मानने लगे । हमारा सब प्रयास निष्फल हुआ । उन्होंने कहा :

“अरे बड़े गुरु-धंटाल हो । तुम्हको तो ऐसा कहनै चाही । ठीक है । ऐसे न रहो तो काम कैसे चले । पर बताय दिया । कबहूँ जरूरत होई तो हमें बाहर न समझना ।”

उस दिन से मैं कल्लू का कायल हो गया । उनका भी बड़ा स्नेह रहा । मैं जेल गया तो वे मिलने आए, एक कुलहड़ में मलाई लेकर आये । और जब जेल से लौटा, गाड़ी देर मैं पहुँची थी, रात के एक बज रहे थे और कल्लू दूकान बन्द ही कर रहे थे, तो पहले कल्लू के ही दर्शन हुए । और वे

ऐसे खुश हुए कि मानो उन्हें जाने क्या मिल गया । उनके नेत्रों से आँखू बह आए । “भैया, बड़ी तपस्था किया”, ऐसा उन्होंने कहा । और फिर एक गर्जन लगाई कि मैं जेल से आ गया और आधा मुहल्ला जाग उठा ।

कल्लू का कोई भी वर्णन उनकी दूकान के सम्बन्ध में दो शब्द कहे बिना पूरा नहीं हो सकता । कल्लू ने जब दूकान सम्भाला तब बिजली उस मोहल्ले तक, या शायद उन के शहर में ही न आई थी, मिट्टी के तेल की चलन भी कम थी, वे कड़ुबे तेल का दिया जलाते थे । धीरे-धीरे बिजली आई, पेट्रोमैक्स भी निकल गया, बगल के ही मनका और अजुद्धी इत्यादि, हलवाइयों ने बिजली लगवाली, उनकी दूकानें जगमगा गईं । पर कल्लू की दूकान पर कड़ुबा तेल का दीवट जलता रहा जो उनके पिता के समय में लिया गया था । और मनका, अजुद्धी, बगैरह ने दूध-दही के अलावा लस्सी भी बेचना शुरू कर दिया, मिठाई भी रखने लगे पर कल्लू वही दूध, मलाई व वही पर टिके रहे । और दूध उनका शुद्ध होता था । लोगों ने समझा लपलपाती बिजलियों के सामने उनकी दीवट बालों दूकान बैठ जायगी, पर ऐसा न हुआ । जैसा कल्लू ने कहा भी :

“जाको राखे साइयाँ मारि न सकता कोय,
बार न बाँका करि सकै जो जग बैरी होय ॥”

हुआ भी यही । कल्लू की दूकान बैसे ही चलती रही जैसे पहले । उसका कारण यही था कि वे शुद्ध दूध बेचते रहे, मिलावट वाला काम उन्होंने नहीं किया । वास्तव में अपने

जीवन के अन्तिम दिनों में उनको इसी की बड़ी ग्लानि, बड़ी वेदना थी कि उनकी बिरादरी वाले अब दूध में सफाई नहीं रखते ।

कल्लू की प्रसिद्धि का एक और कारण बताना आवश्यक है । जैसा हमने कहा है, उस गली में तरकारी की बाजार भी लगती थी और तरकारीवालों को उनका आदेश था कि उनकी दूकान से हटकर बैठें ताकि उनके ग्राहक खड़े होकर सौदा लें लें । पर कल्लू द्वारा निर्धारित इस नियम का उल्लंघन ही ही जाता और तब कल्लू बमकते । और उस समय उनकी बक्तुता जबरदस्त होती । वे कहते :

“हे, हट बे नहीं उठाय के पटक देबों, लेदा अस छितराय जाओ । घर का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध । आए हैं वहाँ से लाट साहब । मारे ओ ही के मारा । हट नहीं पटक देबों । रोज कहित है । मारे ओ ही के मारा । देखो, हमरे मुँह न लगो । सोबं तो भुसौली में सपना देखें लाख टके का । कल से बैठबो तो टांग पकड़कर चीर देबों । मारे ओ ही के मारा । देखो हमको खिभियाव न । मारे ओ ही के मारा ।” इत्यादि ।

दिन में एक बार तो ऐसी बक्तुता हो ही जाती, और लम्बी होती वह, और जैसे-जैसे कल्लू आगे बढ़ते तैसे-तैसे बोलने की रफ्तार तो तेज होती ही, उनकी घनधोर वारी भी ऊँची होती जाती और अन्त होते होते वह “मारे ओही के मारा” “मारे ओही का मारा”—इसी मुहावरे पर आमानो गिरफ्त में पड़ जाती । पर कभी किसी को पटक कर

(२५)

उन्होंने लेदा ऐसा नहीं छितराया, न ही किसी को टाँग पकड़ कर चोरी । उनकी वारणी ही उनके उद्देश्य प्राप्ति के लिए पर्याप्त थी ।

और उनको जो गति प्राप्त हुई वह बड़े-बड़े योगियों, ऋषियों और मुनियों को नहीं मिलती । ऐसा तो कभी सुना ही न गया । वे बृद्ध हो गए थे, दूकान का काम भी रुप सम्भाल लेते थे । वे नित्य प्रातः कल्याणी का दर्शन कर थोड़ी देर दूकान पर बैठ घर आ जाते थे । उस दिन भी वे स्नान कर देवी के दर्शन को गए । फूल-माला चढ़ाया, हाथ जोड़ा, तब पुजारी जी ने वही लाल टीका लगाया, और तब रोज की भाँति देवी को साष्टांग दण्डवत करने के लिए वे झुके, और किर न उठे । उसी साष्टांग अवस्था में ही उनके प्राण-पखेर उड़ गए । लोगों ने एकमत से माना कि यह उनकी पुण्याई का फल था ।



“पौवन लिपस्टिक का खर्च है तुम्हारे यहाँ, पौबनन
लिपस्टिक। मैं तो समझता हूँ कि आटे का खर्च नई दिल्ली
में कम है, लिपस्टिक का ज्यादा। बाहरे भगवान बाह, बाह
तेरी माया।”

भारत स्वतंत्र होने के लगभग सात साल बाद जब पहली
बार चड़ा बाबू नई दिल्ली आए और आने के तीसरे ही दिन
जब वे अपनी परम्परागत प्रेम-भावना सहित मेरे घर पधारे
तो छूटते ही पहली बात उन्होंने यह कही—आँखें खूब बड़ी-
बड़ी कर, हाथों का पैतड़ा बदल-बदल कर। न साहब, न
सलामत, न राम-राम, न दुआ-दुआ, न लड़कों-बच्चों का हाल
न कुछ, बस यही लिपस्टिक की बात। मैंने कहा भी—चड़ा
बाबू कुछ मोहल्ले-टोले, जात-बिरादरी, लड़कान-बच्चपन, की
सुनाओ तो बोले कि “अरे बड़का लड़कान-बच्चपन तो यहाँ हो

रहा है, पहले इसकी तो सुन लो । ऐसनै होगा नई दिल्ली में, इंडिया की राजधानी है भैया, तो फिर कल हमारी भी श्रीलाल यही लिपस्टिकही हो जायगी । तो पहले यह सुनो, मुहल्ले-टोले की तो होबै करेगी । लड़कन-बच्चन का बाप तो यहाँ हो रहा है । वाह री दिल्ली, वाह री दिल्ली, वाह ! वाह भगवान, वाह ! वाह रे तेरी माया ।”

लगभग पन्द्रह मिनट तक यही रट रही और तब कहाँ मेरे प्रारम्भिक प्रश्न का उत्तर मिला । यह प्रश्न सरल-सा यही था कि कब आए, कैसे आए खैरियत तो है न । चड़ा बाबू बोले :

“खैरियत कहाँ रखती है । मारकेश की दशा आ गई है, पचपन डाक चुका हूँ, पैर लटका है, चाहे जब चल हूँ । खूब इन काँपेसियों ने जमींदारी तोड़कर बुढ़ाई दाँव जाने कब की कसर निकाली है । पर हमारे असामी तो अब भी मेरी ड्योढ़ी पर आ बैठते हैं कि साहब सात पीढ़ी से आपका असामी हूँ, कैसे आपको छोड़ हूँ ।”

तो मैंने कहा कि आपने तो जन्म भर खूब जमींदारी से मौज की, कुछ तो बचा ही होगा, बैठे-बैठे खाओ । तो चड़ा बाबू ने जवाब दिया : “अरे अपनी फिक्र तो है नहीं, हम तो पचीसों घाट का पानी पी चुके, सब करके छोड़ दिया, हम तो काट ही ले गये, लड़के की फिक्र में परेशान हूँ ।”

उनके लड़के ने इन्टर्नस पास किया पर इंटर न पास कर सका । चड़ा बाबू ने नौकरी के लिये जो-तोड़ कोशिश

की, एड़ी-चोटी का पसीना एक किया, तब कहीं जाकर सवा सौ रुपये महीने का काम मिला और पोस्टिंग दिल्ली में हुई। तो बच्चे को ही जमाने, उसकी गाड़ी यहाँ चला देने के लिए वे दिल्ली आए। बवार्टर मिला मिन्टो रोड पर और वहीं वे टिके थे। मैं कह ही तो बैठा कि अरे बाबू, अपने शहर में ही या पास-पड़ोस के शहर में काम दिलाते, दिल्ली तो दूर पड़ जायगी, और लड़का कितना भी बड़ा हो गया है पर अभी लड़का ही तो है।

इसका उन्होंने दो जवाब, दो किस्म का दिया। पहला तो यह कि भैया रोटी-पानी जिसका जहाँ बदौ होता है वहाँ तो वह पहुँच ही जाता है। फिर यह भी कहा कि “अच्छा है, घर छोड़ दिया, मुहल्ले वाले अच्छे नहीं, कोई भला नहीं ताकता, सब बुरा चेतते हैं, तुलसीदास ने क्या कहा है :

तुलसी वहाँ न जाइये जहाँ जनम का ठाँव,
गुण-अवगुण जानत नहीं लेत पुरानो नाव।”

मैंने कहा कि फिर भी घर घर ही है, परदेश परदेश ही है, पास रखते तो अच्छा ही था। वे इस विचार से कुछ सहमत-से होते लगे, कहा कि ठीक है, “परदेश कलेस नरेसन को”, कुछ दुखी से लगे, पर एक ही मिनट बाद तड़पे : “क्या है जी, कुछ नहीं, जो होना होगा होगा, पर

इज्जत उसे मिली जो बतन से निकल गया।
सर पर चढ़ा वह गुल जो चमन से निकल गया ॥”

और उनकी बातें चलती रहीं । सब बात एक से एक निराली, सब ज्ञान से भरी, और इस सब के बीच उनका प्रेम मेरी तरफ मानो फूटा यड़ रहा था । हर कुछ मिनट बाद यह तो कह ही देते कि दिल्ली चलने के पहले सोच लिया था कि तुमसे मिलेंगे और कुछ न कुछ पुढ़िया तुम योगे ही । मेरे यहाँ कुछ अखबार, किलाब इधर-उधर रखी थीं तो कहा, “कैसी शांति है, जिस दोबाल से देखो उधर से ही विद्या फूटी पड़ रही है ।” मैंने कहा कि अरे अखबारों में क्या विद्या होती है, अखबार तो बस पढ़ो और चूल्हा जलाने के काम लाओ, बस । पर वे न माने, विद्या फूटने की बात दोहराते रहे और मैं इन्कार करता रहा । तब वे जरा जोर से बोले : “जो कह दिया सो कह दिया, टेक टेक टेक, नो टेक, नो टेक, समझ में आवे तो मानो, न आवे तो न मानो, पर तुमको तो बेटा हमने अपना पोलीटीकल गुरु मान ही लिया है । अब पहाड़ेबाजी करो बन्द, कुछ पुढ़िया दो ।”

मेरी खुशकिस्मती कहिए या बदकिस्मती, पर यह सही है कि चड़ा बाबू मुझे अपना ‘पोलीटीकल गुरु’ मान बैठे हैं । ‘पोलीटीकल गुरु’ से उनका क्या अर्थ है सो भी मैं पूरी तरह आज तक न समझ पाया । एक तो ऐसा गुरु वह हो सकता है जो राजनीति में किसी को दाखिल कराए, प्रारम्भिक दीक्षादे, शिक्षा दे । तो मेरे और चड़ा बाबू के बीच ऐसा प्रश्न ही नहीं खड़ा हो सकता, कारण पहले तो राजनीति में वे कभी पड़े ही नहीं, भले ही

शहर में होनेवाली किसी भी शीर्टिंग को बे न छोड़ते हों। और फिर उम्र का सवाल है, मुझसे बहुत बड़े हैं, मेरे पिता के साथ उठने-बैठने वालों में हैं, मेरे द्वारा उनके दीक्षित होने का सवाल ही नहीं।

हुआ असल में यह। द्वितीय विश्व-महायुद्ध में उन्होंने बराबर जर्मनी की ओर से होनेवाले बर्लिन रेडियो के और सैंगान से जापानियों और आजाद हिन्द फौज द्वारा प्रसारित होनेवाले हिन्दी प्रोग्रामों को नियमित रूप से सुना। सुना ही नहीं, बैठक में भोहल्ले वालों को इकट्ठा कर सुनाया। सरकार ने इस बात पर पाबन्दी लगाई पर चड्ढा बाबू का यह क्रम बन्द न हुआ। बर्लिन वाला जब अंग्रेजों को बड़ी कड़वी कहे, और कभी-कभी फोश गाली भी दे दे तो उनको बड़ा मजा आए। रेडियो सुनने के पहले और बाद वे बराबर कहें : “कैसी फटी-फटी सुनाता है, कलेजा तर कर देता है, मन्दोदरी के दुलहों को छट्टो का दूध याद आ गया। अब इन गोरे बन्दरों को पता लगेगा। जर्मनी और जापान ने तो अच्छी टाँच दी है। भागते जगह नहीं मिलती अब बचा को।”

पर मैं और बगल गली में ही आटे-दाल-चावल की एक दर की दूकान वाले महेश पंडित रोज यही कहें कि नहीं, आखीर में हार जर्मन और जापान की ही होगी। जाने क्यों महेश की बात को तो वह कुछ महत्व ही न दें, पर मुझ से भौके-बै-भौके कहें : “यार बड़ी अशुभ बोलते हो। रुस जीता माने जर्मन हारा, माने यह अंग्रेज जीते। तो बच्चा इसके

माने यह हमारे हिन्दुस्तान की छाती पर चढ़े रहेंगे ? आखिर कहे जिद पर अड़े हो ।” मैंने कहा, रुस पड़ गया है, और वही मामला पलट देगा, और फिर भी यह अंग्रेज हिन्दुस्तान से जाएँगे, जाना ही होगा । उन्होंने सदा कहा : ‘अरे भैया की बातें । रुस क्या कर लेगा, बरफ और जंगल साइबेरिया वाला, वहाँ है क्या ।’ पर संदेह तो बैठ ही गया और जब सच में जर्मनी व जापान हारे तो मैं उनकी निगाह में चढ़ गया । और तब से ही वे मुझे तो ‘पोलीटीकल गुरु’ मान बैठे, और रुस के कायल हो गये ।

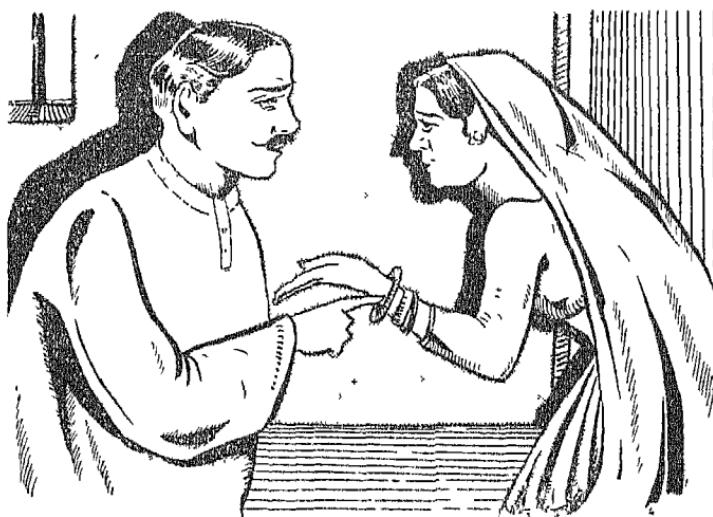
लड़ाई के बाद मैं कहीं बाहर गया और कुछ दिनों बाद मिला तो वे बोले ‘बच्चा, यह रुस वाला तो बड़ा गरम लगता है । अभी उस दिन ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका और रुस वालों की कोई बैठक हो रही थी तो यह मोलोतोववा तो बड़ा ही रंग लाया ।’ हमने पूछा कि क्या हुआ तो कहा : “अरे बच्चा, कुछ गरमागरमी हो गई, कोई बात उसे बुरी लगी तो वह आँख लाल-पीली कर कुर्सी छोड़ चल दिया । विध बनिङ्ग आइज़ ही लेफ्ट दि लेयर एण्ड वाकट हु दी डोर । बड़ा तगड़ा लगता है ।” मैंने अखबारी खबरों में उनकी दिलचस्पी की और एक अंग्रेजी दैनिक को जिस नियमबद्धता और लाइन-लाइन वे पढ़ते हैं उसकी सदा दाद दी है, सदा सराहना की है । और इस वाकए के बाद तो काफी दिन यही हालत रही कि जहाँ वे गली, सड़क, चौराहे पर मुझे देखें तो दूर से ही पुकारें : “क्या बच्चा, विध बनिंग आइज़ ही लेफ्ट



गली, सड़क, चौराहे पर मुझे बेखें तो दूर से ही पुकारें : “क्या बच्चा विध वनिंग आइज ही लेफ्ट दि चेयर एण्ड बाकट दु दी डोर,” और फिर हँसें।

दि चेयर एण्ड बाकड दू दी डोर,” और फिर हँसे।

सारांश यह कि जमाने की राजनीतिक गतिविधि में उनको जन्मजात दिलचस्पी है। जैसा वे खुद कहते हैं, अखबार न पढ़ लें तो उनको खाना हजम न हो। उनका हुक्म है कि जैसे ही सबेरे उनकी नींद खुले सिरहाने अखबार रखा रहे। जैसा उन्होंने कहा; “अखबार न रखा रहे तो मार डालूं जान।” यह ‘मार डालूं जान’ वाली बात वे अवसर कहते रहे। पथा, “दोपहर में जब थाली परोसी गई और छटनी छोटकी वाली पथरी में न रखी रहे तो मार डालूं जान।” मुझसे न रहा गया तो मैंने आखिर एक दिन कहा कि “चड़ा बाबू, यह कौन वे माई-बाप का है, और कितने हैं ऐसे कि रोज ‘मार डालूं जान’, ‘मार डालूं जान’ लगाए रहते हो। कौन है यह घर का फालतू।” तब वे हँसे, कहा “अरे या तो लंबो अम्मा और या मंहगुआ।” तो मंहगुआ तो उनका नौकर है, उसे बचपन से अपनी जमींदारी से लाकर पाला और नौकर बनाया है, और ‘लंबो अम्मा’ वे अपनी श्रीमती जी को चिढ़ाने के लिए कहते हैं। मैंने कहा, “बाबू जब उन्हें लंबो अम्मा कहते हो तो नाराज नहीं होतीं?” बाबू ने बताया “लंबी तो भैया हैं ही, अम्मा भर मैंने जोड़ दिया है।” तो मैंने कहा: “तुम ही कौन नाटे हो बाबू।” इस पर वे बड़ा हँसे, और कहा: “फिर भी तो वह मुझे बहुत खीभने पर कह देती हैं कहो नटवा बैल।” और चड़ा बाबू खूब हँसे।



अब रही पुड़िया की बात, जिसकी माँग वे बराबर हम से करते रहते हैं और निश्चय है कि यावत जीवन करते रहेंगे। सच तो यह है कि वास्तव में पुड़िया के रूप में मुझसे वे कथा चाहते हैं मैं ठोक-ठीक आज तक न समझ सका। पर कुछ अन्दाज उनकी ही बातों से पता लगा। एक नहीं अनेकों लोगों से उन्होंने मेरे बारे में मेरे सामने कहा: “यह हमारे पोलीटिकल गुरु हैं। लड़ाई के टाइम में इन्होंने रूस वाली ऐसी पुड़िया दी कि तबियत हरी हो गयी भाई साहब !” तो मैंने यही सोचा कि पुड़िया को जब यह दरकार करते हैं तो इनका मतलब यही रहता है कि इनको राजनीति की कोई ऐसी बात बतला दें जो होकर ही रहे, और वही पुड़िया वे बाकी सबको सुंघाते फिरे। पर, फिर कभी ऐसा भी लगा कि पुड़िया से उनका मतलब कुछ ऐसी बात की जानकारी से

है जो पर्द के पीछे, गुपचुप हुई हो, यानी 'टाप सीकेट' हो, किसी को पता न हो ।

द्वितीय महायुद्ध की रूस वाली बात हटा दीजिये तो मुझे तो नहीं ख्याल पड़ता कि उपर्युक्त अर्थ में मैंने उनको कभी भी, कोई भी पुढ़िया दी हो । पर यह भी सही है कि मुझ से राजनीतिक वार्ता करने के बाद वह अवश्य कुछ न कुछ पुढ़िया पा ही जाते हैं, कारण दौरान-गुफ्तगू उनके मुँह से यह जुमला भी निकलता रहता है : "वाह बच्चा, यह पुढ़िया दिया तुमने," या विजयोल्लास जैसी वाणी में वे कहते : "यह पाई पुढ़िया ।"

और सच तो यह है कि कभी-कभी उनसे बातें करना कठिन-कसाला हो जाता । अब इसी दिल्ली-यात्रा की सुनियं । एक दिन पहले वे लोक-सभा हो आये थे । कहा : "बड़े-बड़े लोग वहाँ बैठे थे भैया । औंधाय रहे थे औंधाय । अरे तो ठीक है । वहाँ ठंडा इतना रहता है कि हम बैठें तो हम भी औंधा जाएँ । पर वाह रे जवाहरलाल । क्या बच्चा, यह जवाहरलाल कैसा चला रहे हैं ?"

हमने कहा कि इन्ही के बूते पर सब गाड़ी चल रही है । तब उन्होंने कहा, "क्यों बच्चा जवाहरलाल बहुत काबिल हैं ?" मैंने कहा "इसमें क्या सन्देह है ?" तो उन्होंने कहा, "यानी बहुत ही काबिल ?" अब मैं क्या जवाब देता, मैं चुप रहा । बड़ी गम्भीर मुद्रा से देखते हुए उन्होंने फिर पूछा, "मतलब यह है कि बहुत ही ज्यादा काबिल ।" मैं फिर चुप रहा, आखिर

कब तक एक ही बात को अर्थाया जाय । और तब वे तभक उठे, “अरे यार तुमसे कोई सवाल कर रहे हैं कि दिल्लीबाजी कर रहे हैं । हम तो पुड़िया के चक्कर में पचीसन स्टेशन डाक कर यहाँ आए और तुम जवाब ही नहीं देते हो ।”

जरूर वे कभी-कभी इस तरह मेरे ऊपर बिगड़े हैं, वे बड़े हैं, उनको पूरा अधिकार है, पर मैं जानता हूँ कि उनके अन्दर बड़ा स्नेह और बड़ी दया है, करणा है । मैंने देखा है कि किसी की बीमारी का हाल उन्होंने सुना तो तुरन्त चिंता-ग्रस्त हो गए, दबावारु और हालचाल का पूरा पता लिया, और आँखें डबडबा आईं । किसी की भी मृत्यु का उन्होंने हाल सुना तो तुरन्त उनके आँसू बह आए । गांधीजी की मृत्यु का जब उन्होंने समाचार सुना तो रातभर जोर-जोर से रोए और पास-पड़ोस वाले सो न सके । ऐसा लगा कि उनके लिए चलती-फिरती जीवात्मा का निष्क्रिय, निष्प्राण हो जाना ही असह्य बेदना है । कभी भी भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद की चर्चा आई तो उनके आँसू बह निकले । क्या मजाल कि उनके घर वाली गली में और उनके मोहल्ले में कोई किसी गाय को एक डंडा भी भार दे । पास-पड़ोस में कोई बीमार पड़े तो वे अवश्य उसे देखने जाएँ, जो सहायता हो सके सहायता करें ।

उस दिन बातें होते-होते कुछ उनके और अपने स्वास्थ्य की चर्चा चल पड़ी । मैंने कहा कि कुछ दाँतों में दर्द होता है तो उन्होंने कहा : “हड़ बहेड़, तीनों नून, पतंग, माजूफल,

एक अनुपात में मिलाकर कुटवा-पिसवा कर मंजन करो, न आराम हो जाय तो कहना ।” कुछ पेट के न साफ रहने की बात आई तो बता गए कि कच्चा पालक खाए, राई-पानी का अचार डलवाकर खाए, हप्ते में एक दिन रात को ईसफगोल की भूंसी फाँक ले, अमरुद मिले तो जरूर खाए, कैसी भी पेट की गड़बड़ी हो ठीक हो जायगी । दिमागी काम और दिमागी मेहनत की चर्चा चली तो उन्होंने बताया कि रात को चना भिगो कर सब्देरे एक मुट्ठी चना शहद के साथ चबा-चबा कर खाया जाए तो दिमाग तो बस बिजली हो जाए । और भी नुस्खे और लटके उन्होंने बताए, उसका तो मानो उनके पास अगाध भंडार है ।

चड़ा बाबू उस दिन कई साल बाद मिले और उनका शरीर कुछ झटका देख मुझे बड़ा दुख हुआ । मुझे उनका जवानी का शरीर याद आया जब मैं बच्चा था । बुराक धोती और बुराक मलमल का कुर्ता पहने, चमचमाता पम्प शू डटाए, चमकते काले बालों पर चमकते तेल की सहायता से पटियां चिकनाए, स्वास्थ्य और यौवन की वह मूर्ति लगते थे । रंग उनका खुला गेहूँशा है, और लाल-लाल चेहरा, जब हँसे तो गालों की मांस एक बम से जैसे फूल आवे, खून की उन पर गहरी दौड़ हो और ऐसा लगे कि अब तो खून गालों से फूट कर वह ही निकलेगा । मुझ से न रहा गया तो यह कह ही तो बैठा । चड़ा बाबू ने बड़ी लम्बी साँस ली, रहीम का दोहा सुनाया :—

“रहिमन नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय ।
यह पुरपट्टन, यह गली, वहुर न देखौ आय ॥”

फिर बोले : “बच्चा, ६ आने सेर की मलाई, साढ़े चार आने सेर का बादाम डेढ़ पैसे सेर चना, एक रुपए की डेढ़ मन काकुन, १२ आने सेर पिश्ते की बर्फी, ८ आने सेर पिश्ता, ४ आने सेर काली मिर्च, ६ आने सेर सफेद मिर्च—इस भाव पर चोज खरीदकर खाया है । और जब ६ आने सेर मलाई हुई तो बुढ़िएँ कहने लगीं कि हाय हाय, अब आदमी क्या खाएगा और क्या जीएगा । आज ६ आने की छटांक मलाई मिलती है । हम डेढ़ पाव बादाम रोज पीते थे । शरीर तो जो बुढ़ाया सो बुढ़ाया, जमाना भी तो पलट गया । एक रुपए की पांच-पांच मन लकड़ी बिकती थी । २६ सेर का गेहूँ था, ३ पैसे सेर आटा, २ पैसे सेर नमक, २ मन का जवा, तब १० रुपया महीना पाने वाले घोड़ा-गैया बाँध लेते थे । और अब १० रुपया बया है, आँसू पोछने भर को नहीं है ।”

और बड़ा बाबू गम्भीर हो गए । स्वभाव से दयावान उनकी आत्मा रो पड़ी । नेत्रों में भी आँसू छलक आए । पर दो ही चार मिनट बाद वे राजनीतिक दुनियाँ में धूम पड़े, चीन, रूस, अमरीका, डिलेस सब ही लपेट में आने लगे, और इनादन पुड़िया की माँग होने लगी, वे मेरे जाने-अनजाने उसे पाने भी लगे । रात नौ बजने को आ गए तो फिर

चलाचली की बात हुई । और अन्त में वे यह कहते हुए उठे:

“कथा विसर्जन होत है सुनो बीर हनुमान,
निज आसन को जाइए सदा करहु कल्पान ।
बोल दे सियावर रामचन्द्र की जै ।”

मैं उनको पास चौराहे तक छोड़ने गया, जहाँ से ताँगा मिलता है । रास्ते में उन्होंने फिर लिपस्टिक वाली चर्चा चलाई और कहा, “बच्चा, घर में वह बैठी थी तो नहीं पूछा, पर एक बात तो बताओ । यह बुढ़िए हैं, या अधेड़ हैं, यह लिपस्टिक पोतें तो भला-भला, पर नई दिल्ली में यह जवान स्त्रियाँ भी क्यों लिपस्टिक पोतती हैं ? अरे भाई, प्राप्ते च खोड़शे वर्षे सूकरी अप्सरायते, तो फिर यह क्या ।”

अब मैं क्या जवाब देता, यही कहा कि जमाने की रफ्तार है । चड़ा बाबू इस पर बोले, “भाड़ मे जाय ऐसा जमाना । यह कोई बात है । इनके पुरखे क्या कहते होंगे ।” मैंने जवाब दिया : “भले सूकरी अप्सरायते, पर लिपस्टिक से व्यूटी में तो इजाफा हो ही जाता है ।” तो वे बड़ा तमके, कहा : “मोका न चाही ऐसी व्यूटी-व्यूटा । मैं तो भैया,
पतिशता मैली भली गले कांच की पोत
सब सखियन में यों दिये ज्यों तारा खद्दोत ।”

जब वे टांगे में बैठ गए तो मैंने पूछा कि अब कब आइएगा । मैंने कहा कि गमियाँ आ रही हैं, तब कुछ मुझे ज्यादा फुर्सत रहेगी, आओ तो पालिटक्स खूब छनें । उन्होंने जवाब दिया, “ना बाबा । तिरहस्साल गर्मी में यहाँ आने की

एक चर्चा थी तो अखबार में मंने यहाँ की गर्मी बच्चे से पढ़वाई। बड़ी जबर डिग्री थी तब, हिम्मत न पड़ी। बरसात बाद आऊँगा।" और फिर चलते-चलते कहा : "दिल्ली बच्चा निराली है। यहाँ की डिग्री भी जबर होती है।"



लाला लुल्लीलाल

दूस विशाल और असार संसार मे जब हम अपनी जीवन
रूपी साइकिल की धंटी दुनदुनाते, बोक लगाते और पैंडिल
मारते, दाहिने और बाएँ मुड़ते और बैलेस संभालते निकलते
हैं, याभग बैसे हो जैसे साढ़े नौ और साढ़े १० बजे दिन के
बीच नयी दिल्ली की पार्लियामेन्ट स्ट्रीट में सेक्रेटरियट के
बाबुओं का झुंड साइकिल की धंटी दुनदुनाता नार्थ और साउथ
ब्लाक की ओर झपटता-सँभलता चला जाता है, तो हमको
अनेकानेक व्यवित मिलते हैं, अनेक रूप-रूपायेण। इनमें से
बहुत तो मिलने के बाद ही भूल जाते हैं, कुछ स्मृति-पटल पर
कुछ दिन टिकते हैं और कुछ तो वहाँ अटल होकर डट जाते
हैं। दूसरे शब्दों में, अगर दिमाग की उपसा आप काबिल-
कावत भूमि से दें तो कहा जा सकता है कि इन अटल लोगों
को वहाँ मध्यप्रदेश के किसानों की तरह मालिक-मकबूजा हक,
या कुछ अन्य प्रदेशों की शब्दावली के अनुसार हक हीनह्याती,

मौरुसी या दखीलकारी प्राप्त हो जाता है । वे आपके दिमाग में बने ही रहते हैं, उनकी याद आपको आती ही रहती है ।

मैं लाला लूलीलाल को इसी श्रेणी में रखता हूँ । हाँ साहब, उनको मेरे मस्तिष्क रूपी खेत में मालिक-मकबूज़ा हक प्राप्त है ।

वैसे तो लाला लूलीलाल की एक पूरी जीवनी ही लिखी जा सकती है । वे इस काबिल हैं कि उनके जीवन का बृहद् वर्णन संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय । पर यहाँ तो हम उनकी कुछ झलकियाँ ही आपके सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे ।

सर्वोपरि लाला लूलीलाल कवि या शायर हैं । उनकी इस प्रतिभा का प्रस्फुटन यूँ हुआ कि लाला की जयानी के दिन थे । उस बक्त तक हिन्दू-मुसलिम दंगों का दौर-दौरा शुरू नहीं हुआ था और मुसलमान लोग अपना सामान बेचने हिन्दू मुहल्लों में पहुँच जाते थे । उन दिनों एक बूढ़ा मुसलमान रंग बेचने आया करता था । यही कोई पचास या साठ की उम्र, घुटने लक की धोती, एक फटा जूता, खाकी रंग का फौजियों वाला कोट जिसे उसने शायद गुदड़ी बाजार से खरीदा था, और एक गंदी-सी दुपलिया टोपी । बाढ़ी सफेद छरहरी थी, रंग बेचते-बेचते वह भी रंग गई थी । रंग की लक्ष्मक एक पेटी से बैधी उसकी गीठ पर लटक रही थी और अपनी रोज की आवाज में उसने कहा :

“हरा, गुलाबी, पीला रंग ।”



अपनी रोज़ की आवाज में उसने कहा : हरा, गुलाबी, पीला रंग !
मुनते ही लाला ने कहा : “जैसी अद्दी खपड़े में पतंग !”

लाला लूलीलाल उस वक्त, दिन के करीब दस बजे थे, घर के बाहर, गली में स्युनिसिपेलिटी वाले बंधे के पास खड़े, लुगों लगाए, दाँतून कार रहे थे। “हरा गुलाबी पीला रंग” सुनते ही लाला ने कहा :

“जैसी अटकी खपड़े में पतंग ।”

लाला के मुँह से यह निकलना था कि पास में खड़े अलोपी पंडित, मुन्ना गुरु और छांगमल तो उछल पड़े। “बाह लाला, बाह लाला, क्या तुक जोड़ा है, बाह लाला, कमाल कर दिया, हव हो गई, बाह, बाह”…… बस सभक्षिये कि इसकी रट लग गई ।

बात सच थी। बंधे या नल के बगल में ही एक दर्जी का मकान था, जो अब दर्जीगिरी छोड़ महाजनी पेशा करने लभा था, और उसके घर के छप्पड़ पर एक पट्टीदार पतंग अटकी हुयी थी, और उसकी तीन पट्टियों का रंग भी वही हरा, गुलाबी और पीला था। लाला थे पतंगबाज, सुबह के कुछ घंटे और शाम तो छल पर बिताते ही थे, पतंग-जगत की गतिविधि से पूर्ण रूप से वाकिफ रहते थे। पिछली शाम को ही उन्होंने वह पट्टीदार पतंग दर्जी के घर के छप्पड़ पर अटकी देखा होगा, अतः बात दिमाग में थी ही, तुक मिलाते देर न लगो ।

फिर भी खतरा था कि इस प्रकार उन्होंने जो अपनी कवियोचित प्रतिभा का परिचय दिया वह सुसुप्त ही रह जाती, यदि अलोपी पंडित, मुन्ना गुरु और छांगमल वहाँ न होते। लाला लूलीलाल ज्ञरा खानदानी आदमी हैं, और तब तो उनके

पिता जीवित थे और उनकी गिनती अगर शहर नहीं तो मुहल्ले-टोले के रईसों में भी ही। खर्चे-वर्चे के लिए उनके पास रकम रहती ही थी और उनकी तारीफ में चार शब्द बराबर कहते रहकर अलोधी, मुन्ना और छंगा उनकी बदौलत सनीमा, ठेठरों, गहरेबाजी (यानी इक्कों की दौड़), इत्यादि, का भजा लेते रहते ।

कुछ ही दिनों बाद लाला लूलीलाल ने एक और शेर बनाया । उन्होंने कहा :

“दर्जे में उछलते हैं कालेज के लड़के,
वे बन्दर के बच्चे बना चाहते हैं ।”

कहना न होगा, इसकी भी प्रशंसा हुई । और फिर कुछ दिन इसी ‘चाहते हैं’ मार्का शेरे लाला बनाते रहे । एक सरकस शहर में आया तो उसे देखकर लाला ने कहा :

“सरकस में कूदता है हिरनी का बच्चा
वह हवाई जहाज बना चाहता है ।”

गर्जे यह कि लाला अपने और शौकों के साथ शायरी करते ही रहे । करते-करते सन् १९३० और १९३२ के सविनय श्रवज्ञा आन्दोलन का वक्त आया । जब गांधी जी ने नमक कानून तोड़ा और गांधी की आंधी फिर चली तो लाला को बुआ ने कहा : “ई गांधीवा फिर गंधाय आय गवा ।” पर लाला के दिमाग पर कुछ दूसरा ही असर पड़ा । वे शब्द रोज अखबार पढ़ने लगे । कॉर्प्रेस की गैर-कानूनी बुलेटिनों को पढ़ने में भी उनकी दिलचस्पी हो गई । पंडित सुन्दरलाल हारा

लिखित, उसी समय प्रकाशित 'भारत में अंग्रेजी राज' भी उन्होंने पढ़ डाला । और, अंग्रेजों के लाठी चार्ज, गोली छलाने, उनकी दमन-नीति से लाला लूलीलाल इतने खीझे कि एक कविता लिखी :

'अफसोस कोई ऐसा न हुआ भारत में माई का लाल
जो लपक कर देता एक बंबे का नल
लार्ड एंड लूले इरविन के खोपडे पर ।'

और फिर,

'भारत में अंग्रेजी राज, भारत में अंग्रेजी राज
जब आए लंडन से तो करी धोषणा
कि देंगे स्वराज,
और करके धोषणा देने लगे
दमन, लाठी, गोली, बरछी, बंडूक, तोप,
पिस्तौल और जेल राज"—इत्यादि ।

वैसे लाला इस कविता को हाली-हरजा लोगों को नहीं सुनाते थे । सुनाते भी थे तो अपनी कोठों के अन्दर के पीछे बाले कमरे में ले जाकर और उसका भी किवाड़ बन्द कर, ताकि पुलिस को न पता लगे, क्योंकि वे जेल जाने से बहुत डरते थे । इस बक्त तक उनके सामने के ऊपर बाले दाँत टूट चुके थे और जब कविता सुनने के बाद लोग उनसे उसकी प्रशंसा करते तो वे कहते—'व्याक कहें, ऊपर के ये दाँत टूट गए हैं, हवा निकल जाती है, नहीं तो यह और भी अच्छी लगती ।'

कहाँ तक वर्णन किया जाम । लाला लूलीलाल की बात

बात में बात है । अब यहीं बम्बे के नल की ही बात ले लोजिए जिसको लेकर लाला को दुःख हुआ कि कोई भारत में ऐसा न हुआ जो लपककर लार्ड एंड लूले इरविन के खोपड़े पर उसे दे भारता । वास्तव में बम्बे का नल लाला के लेखे ब्रह्मास्त्र है । एक बम्बे का नल उनके घर के दरवाजे के बगल में रखा रहता था कि जाने कब उसकी जहरत पड़ जाय । लाला से जब पूछा जाता कि लाठी या बल्लभ इत्यादि छोड़कर वे बम्बे के नल को क्यों प्राथमिकता प्रदान करते हैं तो उसके गुणों को, और लाठी इत्यादि के मुकाबले में उसकी उच्चता को भली भाँति समझा देते । अस्तु ।

यही कुछ बातें लाला की स्मृति को अटल बनाने के लिए पर्याप्त हैं, पर यहीं से उनकी प्रतिभा का खात्मा न समझा जाए । उनकी एक बात नहीं भूलती । एक जमाना था जब डासन नाम के जूते भारत में बड़े प्रचलित हुए । वास्तव में इस पर भी लूलीलाल ने एक कविता बनाई :

“हुए दिल्लीबाल और पंजाबीबाल गायब,
बनाकर शू ऐसा जो डासन ने मारा ।”

तो एक बार लाला डासन जूता खरीदने सिविल लाइन्स की एक दूकान पर पहुँच ही तो गए । दूकान में दाखिल होते ही एक एंग्लो-इण्डियन लड़की, बनी-ठनी, लाला के साथ हो ली । वह वहीं मुलाजिम थी और खरीदारों की आवभगत करना उसका काम था । लाला यह सब कुछ समझ न पाए, उसी के साथ बढ़ते वे दूकान के मालिक के टेबल तक पहुँच गए ।

दुकानदार ने अंगेजी में ही पूछा कि क्या चाहिये, तो लाला ने कहा, "वी वाट डासन शूज़ ।" बाद में जब लाला ने यह



वर्णन बताया तो उनसे पूछा गया कि लाला तुम तो अकेले जूता लेने गए थे, तुमने 'वी' यानी बहुवचन का प्रयोग क्यों किया? लाला ने जवाब दिया, वाह, 'आई' एक के लिये, और 'वी' दो के लिए प्रयोग होता है, और हम वो थे, वह मेभिया भी तो साथ थी ।

एक ऐसी ही बात आगे है । किसी मुकदमे के सिलसिले में लाला को अदालत जाना पड़ा । जब वे जज से मुखातिब हुए तो उन्होंने कहा : "हुजूर, इनका मुकदमा फ्रांग है फ्रांग, बिल्कुल फ्रांग ।" जज हैरत में आगया, उसकी समझ में ही न

ग्राया । फाग माने होता है मेढ़क, और वह सौचने लगा कि कोई मुकदमा भला कैसे मेढ़क ही सकता है । बाद में पता लगा कि लाला 'फाड़' (शोखाधड़ी) को 'फाग' कह गए ।

लाला की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे एक बार के अलावा कभी रेल पर नहीं चढ़े । चढ़े थे जब उनकी शादी हुई थी, दसियों साल बीत गए । शादी पंजाब में किसी खत्री खानदान में हुई थी । उनसे जब पूछा जाता है कि लाला यह रेलगाड़ी से इतनी चिढ़ क्यों तो वे जवाब देते हैं कि रेल लड़ जाय तो ? इस लड़ने के डर से ही उन्होंने अपनी स्त्री को कभी समुराल नहीं भेजा । हाँ, अभी हाल में, विवाह के दसियों साल बाद, वे अपने साले के साथ अपनी स्त्री को भायके भेजने पर तैयार हुए ।

जीव-जन्मुओं से लाला को बड़ा प्यार है । घर के आँगन में ही उन्होंने एक छोटा तालाब बनवाया और उसमें रंग-बिरंगी भछलियाँ पालीं । तरह-तरह के खरगोश, कुछ सफ़ेद विलायती चूहे, एक पीला तोता, तरह-तरह के काकातुए, गर्जे वह कि वर्जनों प्राणी लाला ने बसाए । एक भोर भी था । और जाने कैसे एक लंगूर से उन्होंने दोस्ती की । वह बड़ा ही मोटा लंगूर था । जाने कहाँ से, हफ्ते में कम से कम एक बार कूदता-फौदता वह लंगूर लाला के यहाँ आ जाता, लाला का दिया चना-चबैना वर्गीरह खाता, घंटे दो घंटे बैठता, लाला की कोठी के दरवाजे पर दर्शकों की, बच्चों की अच्छी-खासी भीड़ इकट्ठी हो जाती, फिर वह चल देता ।

पर अब नमाना बदल गया है । लाला लूलीलाल साठ डाक गए हैं । सब दाँत टूट चुके हैं, भरा मुँह, भरे हाल अब चुचूक गए हैं । उनका वह मस्त शरीर अब सूखकर छोहारा जैसा हो गया है । जमींदारी ढूटने से उनको आय खत्म ही है, सुआवजा भिलने में बड़ी भाँझटे हैं । जिन्दगी में कभी डबल तो कमाया नहीं, किसी की गुलामी तो की नहीं । बहुत दिनों तक चिड़ियाँ, चूहे, तोते, इत्यादि, बेच कर काम चला । पर उन्हें भी कभी तो खत्म होना ही था । जहाँ सोर नाचते थे वहाँ अब दूकानें निकलवा दी हैं, कुछ किराया आ जाता है । शहर की ही कुछ और जायदाद से किराए की आमदनी है, उसी से गुजर होती है ।

और लाला लूलीलाल में अब वह पुरानी मस्ती भी नहीं रह गई है । रहे भी कहाँ से ? पिछली बार जब मैंने उनके दर्शन किए और स्वाभाविक रूप से जब मैंने उनसे पूछा, “लाला वया हाल-चाल है ?,” तो उन्होंने जवाब दिया : “हाल उतर गई है, चाल बिगड़ गई है, इष्का दुलंगता-फुलंगता चला जा रहा है ।” फिर थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा : “कब तक दुलकेगा, अब सकर जल्दी ही खत्म होना है ।” मैं कुछ बोला नहीं, पर मेरी आँखें अवश्य डबडबा आईं । मुँह सोडकर मैं आगे बढ़ गया ।



हमारे शहर के कूचा घसीटेलाल में जो मुरली रहते हैं उनको लोग 'बादशाह' कहते हैं। यथा, शाम को चूरन बेचकर जब मुरली लौटते तो कूचे वाले ज़रूर पूछते हैं: "वया बादशाह, कितने गडे ठीक हुए?" उस कूचे की बोली में 'गड़े' का मतलब एक इकान्ती से होता है। और अपने 'बादशाह' नामकरण को मुरली स्वीकार करते हैं, उस प्रकार सम्बोधन किये जाने पर वह जवाब देते हैं। वास्तव में उन्होंने स्वयं अपने को 'बादशाह' घोषित किया। वैसे वह सर्वहारा ही हैं। ज़रूर जिन घसीटेलाल के पीछे उनके कूचे का नाम पड़ा वे मुरली के ही कोई महान पूर्वज थे जिनको भरे भी लगभग अस्सी वर्ष बीत चुका है। पर अब तो मुरली को बस चूरन का ही सहारा है।

मुरली अकेले ही हैं। जैसा कूचे वाले कहते हैं, उनके "न आगे नाथ न पीछे पगहा।" एक बूढ़ी माँ थी जो मर चुकी

है। उसी माँ ने जैसेतैसे उनको पाँचवें दर्जे तक पढ़ाया। पाँचवें में वे फेल हो गए तब आगे न पढ़ सके। लगभग सत्रह या अठारह की अवस्था को जब वह पहुँचे तो कूचे के ही एक रईस, म्यूनिसिपलटी की शिक्षा कमेटी के चैयरमैन, से कह-सुन कर माँ ने मुरली को म्यूनिसिपलटी में नौकरी दिला दी। वहाँ वे लगभग पाँच साल तक काम करते रहे। तीस रुपया महीना मिलता था, काम था चिट्ठी-विट्ठी बांद आना। मजे से कट रही थी। पर मुरली ने देखा कि बहुतों को तरक्की मिल गई, उनको न मिली। वह इसकी चर्चा लोगों से करने लगे। चर्चा करते भी एक साल से ऊपर बीत गया, पर किसी ने न सुना। तब मुरली ने एक कविता बनाई। उन्होंने कहा :

“उँगली जो अड़ा दी है सेक्रेटरी ने चाल से,

तीस पर अटके हैं बेटा पाँच साल से।”

मुरली की यह कविता खूब फैली। सभी उन्हें रोक-रोक कर यह कविता सुनाने को कहते। करते-करते यह सेक्रेटरी के कानों तक पहुँची। यह कोई बिगड़े दिल थे। खीभ गए, और एक दिन मुरली की शामत आ ही गई। वह नौकरी से निकाल दिए गए।

वह सन् १९२८ और १९२९ की भयंकर भंडी और बेरोजगारी का जमाना था। मुरली बेकार हो गए। माँ आस-पास के मुहल्लों में पीठी पीसकर, पिसनारिन का काम कर कुछ पैसा पैदा कर लेती, उसी से काम चलता। पर शीघ्र ही कॉफ्रेस का सन् तीस वाला आन्दोलन चला। मुरली वालंटियर

में भरती हो गए । भगवान ने आवाज उनको सिंह जैसी दी ही थी । झंडा लेकर वह ही जुलूस में आगे चलते । और धूमते-ठहरते उनके शहर में पंजाबी भाषा में नारों की एक लड़ी पहुँची, कुछ इस प्रकार :

इज्जत रहदी ना
मरण बिना,
ना कुछ बड़ दाना
करण बिना,
नौजवानों !
हो होशियार !!
इन्वलाबी नारे मार
हिका पीछे हिका ढा दे
हिको शूटो मरण हजार ।

झंडा लिए मुरली एक-एक लाइन कहते आगे बढ़ते, उनके पीछे जनता उनको दीहराती, वह दृश्य बस देखते ही बनता । और जब मुरली 'नौजवानों' पर पहुँचते, तो उस शब्द का उच्चारण वह ऐसे भयंकर सिंह गर्जन में करते कि सड़क हिल जाती, कान फट जाते, और पीछे आने वाले जुलूस की मिली आवाज का 'नौजवानों' मुरली के 'नौजवानों' को न पा सकता ।

स्वभावतः ऐसे विद्रोही को अंग्रेजी हुक्मत ज्यादा दिन बाहर नहीं छोड़ सकती थी । मुरली गिरफ्तार कर जेल भेज दिये गये । उनको छः महीने की सजा हई, "सी" खास

(४१)



नौजवानों ! हो होशियार !!

मिला । वहाँ भी जेलरों और वार्डरों से उनका झगड़ा होता ही रहा, कई बार उन्हें तनहाई मिली, कुछ दिन डंडा-बेड़ी भी पा गए, पर मुरली मस्त रहे । मगर शीघ्र ही उनकी मस्ती खत्म हो गई, उनकी हिम्मत टूट गई, वे रो पड़े । म्युनिसि-पेलटी की नौकरी छूटने और जेल में तनहाई पाने के दो-हाई साल के अरसे ये उन्होंने अपनी बृद्धा माँ को ओर ध्यान ही न दिया । दिन भर पूमधामकर घर पहुँचे तो माँ थाली लिए बैठी रहती, उसे भी दो-चार कड़ुवों कह, खाना खा वे सो जाते । और अब तनहाई में उन्हें खबर मिली कि उनकी माँ का देहात ही गया है । मुरली रोए, बहुत फूटकर रोए, धंटों रोए । उनको माँ का प्रेम याद आया, और उसके प्रति अपनी लापरवाही का भी भान हुआ । वे उस तनहाई में उद्धिन हो गए, कोई ढाढ़स देने वाला भी न था, रात भर सिसकते रहे, और दूसरे दिन सुबह माकी माँग ली और जेल से छूटकर अपने घर पहुँच गए ।

और यह दुनिया, यह निर्वशी निमंग दुनिया, उसने एक मिनट भी मुरली पर क्या बीती, इसे न सोचा । “मुरली ने माफी माँगी” “मुरली ने माफी माँगी,”—बस इसी की धुन लगी । जिन मुरली को ‘नोजवानों’ वाले दिनों में लोग घेर लेते थे उन्हीं से अब कोई बात न करता था । घर में मुरली को माँ का स्नेह न मिला, घर साँय-साँय करता काटने दौड़ता था, बाहर दुनिया खाने दौड़ती थी, पैसा पास न था, खाने के लाले पड़े थे, और मुरसी विक्षिप्त हो गए, उनका दिमाग चक्कर खा गया,

उनकी कुछ समझ में न आया, उनकी बुद्धि फेल हो गई, और तब से ही शायद उनके 'बादशाही' दौर का प्रारम्भ हुआ ।

जेल से आने के कुछ ही दिनों बाद मुरली की विरादरी की एक सभा हुई । सभा में मामला यह पेश था कि मुरली की विरादरी वाले, जो गौड़ हैं, एक अन्य विरादरी से, जो श्रीगौड़ हैं, विवाह सम्बन्ध करें या नहीं । विरादरी के एक सज्जन ऐसा करने पर अड़ ही गए थे । बड़ी बहस रही, बड़ा अनन्त विवाद चला । बड़े-बड़े वास्त्रार्थ हुए । शायद ही कोई बचा जिसने भाषण न दिया । मुरली से भी न रहा गया । वे भी बोले । और उनके भाषण से तहलका भव गया । उन्होंने क्या वास्तव में कहना चाहा, किस पक्ष का समर्थन किया, यह तो किसी की समझ में आया नहीं । । पर उनकी कुछ बात सबको याद रही । उन्होंने कुछ निम्न तरह की बातें कहीं :

"आप लोग बाले करते हो । क्या बातें करते हो ? कुछ बातें नहीं करते हो । सँभल जाओ, होश सँभालो । हम जमाना पलट देंगे ! हम इनकीलाब कर देंगे !! ऐसा जमाना ! वाह, वाह, वाह !! घोड़ा सड़क पर पेशाब करे तो कोई न बोले, मनई पेशाब करे तो जेलखाना चला जाए । यह गजब, यह अंधेरखाता । हम इनकीलाब कर देंगे, हम किरान्ती कर देंगे ।" ...इत्यादि । और बड़े तेश में, बड़े जोश में मुरली ने यह भाषण दिया । विरादरी वाले कुछ समझ न पाए । पर लोग कहने लगे कि मुरली सनक गए ।

वैसे मुरली के चेहरे पर अब वह पुरानी मस्ती नहीं

दिखाई पड़ती थी । उनकी दाहिनी आँख में मोतियाबिन्द निकल आई थी, उससे भी उनकी आकृति में अन्तर पड़ गया था । उनकी बाढ़ी बढ़ आई, बाल भी वे बढ़ाने लगे, कटवाने को पैसे ही न थे । और दुःखी, चिकिप्त मुरली को रामायण की कथा बाँचने वाले एक पंडित से सहारा मिला । कथा के बाद आरती धुमाना मुरली का काम था, कुछ पैसे आरती पर चढ़ ही जाते, पूजन-वूजन में भी कुछ चावल-दाल आ ही जाती, और मुरली का काम चल ही जाता । और उन्होंने रामायण खब सुनो, कुछ सीखा भी होगा, पर तुलसी की रामायण पर शोध ही उन्होंने अपनी नक्काशी चढ़ानी शुरू कर दी । उन्होंने सुनाया :

जामवन्त के वचन सुहाए । लेन अफीम सकल जन धाए ॥

अंगद बहुत अनुग्रह कीन्हीं । चलती बेर दुआनी दीन्हीं ॥

मुरली ने यह भी सुनाया :

गुरु वशिष्ठ के वचन सुहाए । लक्ष्मण इंगलिश चेयर लाए ॥

मारग सा मिल गए हनुमाना । जात रहे भोटर पर थाना ॥

यहाँ तक गनीमत रही, पर मुरली ने एक और दोहा सुनाया :

पान खाय बीड़ी सुलगाई ।

भाई सहित चले रघुराई ॥

यहीं भक्तजनों का धैर्य टूट गया । भगवान राम के मुँह में बीड़ी !! हा हन्त ! हा हन्त ! हव हो गई ! मुरली पर पचासों गालियाँ पड़ीं । पर मुरली शब्द स्थितप्रज्ञ अवस्था को

ग्राम कर चुके थे । वे न हँसे, न रोए, न खीझें, न बिगड़ें । गालियाँ पड़े तो वैसे, लोग हँसे तो वैसे । लोग कहने लगे कि मुरली सनक गए हैं ।

जो भी हो, पर इतना स्पष्ट है कि रामायण की कथा सुनते-सुनते मुरली के अन्दर का कवि अद्वश्य जाग गया था । काफी कविताएँ वे रचने लगे, कुछ तो ऊपर के किस्म की गड़बड़ रामायण की तरह की चीजें, और कुछ और किस्म की । कभी-कभी तो हजार खोपड़ी मारने पर भी उनकी कविता का अर्थ समझ में न आता था । एक ऐसी ही रचना सुनिए :

एक जो है सो, दो जो है सो, जाफर खाँ का बाप जो है सो । पटने में जब काल पड़ा था, भारे गए कोतवाल जो है सो ॥ आधी दाढ़ी घोट-घोटावा, आधी छज्जेदार जो है सो । दाढ़ी बीच पड़ गए चीलर, काटे और मुराय जो है सो ॥ आज जो है सो, काल जो है सो, ठोक रहा है ताल जो है सो ॥
.....इत्यादि ।

इसी प्रकार, आजीविका का शगल बदलते हुए लगभग नौ-दस साल बीत गए । मुरली की दाढ़ी बड़ी होती गई, केश भी बहुत बड़े हो गए, उनमें सफेदी भी आ गई, मोतियाबिन्द भी बड़ा होकर एक पुतली पर पूर्णरूपेण छा गया । और, मुरली एक सौ ग्यारह नम्बर बाला त्रिपुण्ड लगाने लगे, ग्रहम-चारी थे ही, शरीर भी भगवान ने अच्छा ही दिया था, जिवर वे निकल “ऐं उधर वे ही वे चमकें । जब दूसरा विश्व महायुद्ध

छिड़ा और भारत में स्वातन्त्र्य-संघाम का जोर हुआ तब मुरली ने एक ऐतिहासिक घोषणा कर दी । उन्होंने ऐलान किया :

“छ: टोपियों का राज लिखा है, छ: टोपियों का । छ: टोपी जहाँ खत्म हुई कि अंग्रेज यहाँ से जाएँगे । वे रावण के बंशज हैं, रावण के । ‘त्रिजटा नाम राक्षसी एका’—यह तुलसीदास गोसाई कहे हैं न । बस उसी ‘त्रिजटा नाम राक्षसी एका’ के यह औलाद हैं । भगवान का आशीर्वाद है, त्रिजटा ने अशोक बाटिका में सीता को रोटी और बाल में धी डालकर खिलाया था और लस्ती पिलाई थी, उसी लिए उसे आशीर्वाद मिला ।”

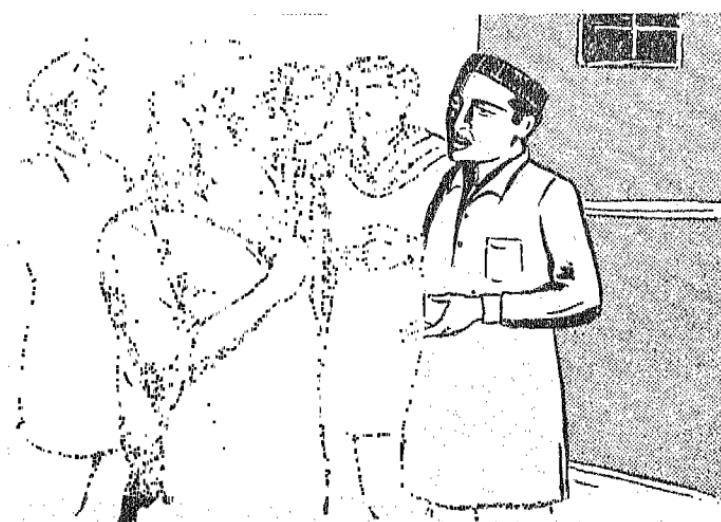
लोगों ने गिना । मलिका विकटोरिया एक, एडवर्ड सप्तम दो, जार्ज पंचम तीन, एडवर्ड आठवाँ (“जिसने एक मेसिया के पीछे इतनी बड़ी राजगद्दी छोड़ी”) चार, और यह जार्ज छठवाँ, कुल पाँच टोपी । और मुरली अड़े थे कि नहीं छ: टोपी का राज लिखा है, “उसके पहले कोई बाल नहीं बाँका कर सकता गौरमिन्ट का ।”

बास्तव में इधर देखा गया कि मुरली सब ही समस्याओं और बातों पर राय देने लगे, और बिलकुल फैसलाकुन राय, अन्तिम आखिरी राय, जिसमें तरसीम और संशोधन की मुँजाइश ही नहीं थी । आखिर एक दिन किसी से न रहा गया । बहस छिड़ी थी कि हिटलर मरा या नहीं । मुरली अड़े थे कि वह मर नहीं सकता । पूछा गया कि क्यों । मुरली ने

जवाब दिया : “अरे हम सब जानते हैं, जर्मन यहाँ से ऋग्वेद ले गए हैं, उसी को पढ़कर हिटलर ने कवच बनवाया है, वह किसी गोली से नहीं मर सकता ।”

इस पर दूसरा बेजवाब-सा हो गया, खीभ उठा और बोला :

“तुम तो मुरली ऐसा बोलते हो कि जैसे सब गौरमिन्ट तुम ही हो, सब लिख के तुम्हारे पास आता है ।”



अरे साहब ! मुरली तो तड़प उठे, ऐसा उनके साथ बहुत कम होता था, कड़ककर बोले :

“अरे गौरमिन्ट क्या जान सकती है जो मैं जानता हूँ । अरे वह तो गौरमिन्ट है बस गौरमिन्ट, यानी मिन्ट-मिन्ट में

गौर करती है । पर में गौरसिकंड हूँ गौरसिकंड में सिकंड-सिकंड पर गौर करता हूँ । सब देख रहा हूँ, सब समझता हूँ, सब फेरा-घेरा अपना ही है, सब रपोटें आती रहती हैं, तुम व्या जानो, कुछ पढ़ा भी है, कुछ ज्ञान भी है ।”

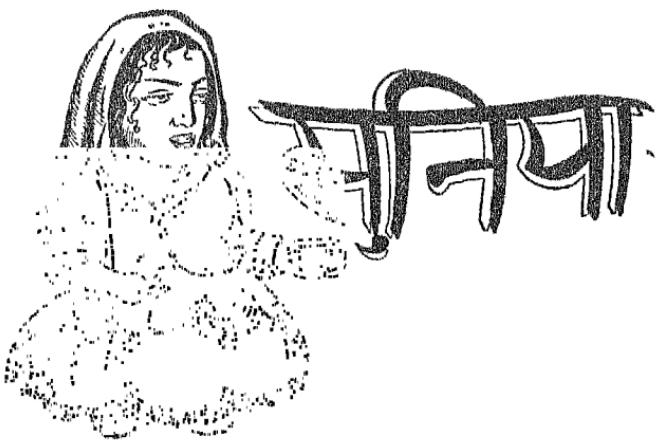
समझिये कि इसी दिन से लोग मुरली को “बादशाह” कहने लगे । पहले तो “बादशाह बेमुल्क” कहलाये, पर किर संक्षिप्त रूप “बादशाह” ही चल पड़ा । और अब वे बादशाह ही कहे जाते हैं । पूँछिये तो वे साफ कहते हैं कि हाँ, इस चराचर, स्थावर जंगम जगत के वे ही स्वामी हैं । और कथा बगैरह का सिलसिला तो पीछे रह ही गया था, स्कूली लड़कों में चूरन की गोली बेचना उन्होंने ज्यादा सरल और लाभप्रद पाया । आजीविका के उसी साधन पर वे गत कई वर्षों से ठहरे हुए हैं । पूँछिये कि जब दुनिया के बादशाह हो तो यह चूरन व्यों बेचते हो तो जवाब मिलता है कि पेट के लिए कुछ तो करना ही चाहिए । हाँ, छः टोपी वाली बात तो रह ही गई । सन् १९४७ में जब भारत आजाद हुआ तो हम ने कहा कि “बादशाह रही तो पाँच ही टोपी, तुम कह रहे थे कि छः टोपी का राज है ।” उन्होंने कहा कि गिनाओ । मैंने मलिका विकटोरिया से लेकर जाज़ छठवें तक पाँच गिनाये । तिस पर वे बोले : “और तुम विलियम को तो भूल ही गये ।” मैंने कहा : “वह कौन था ?” मुरली हँसे, मेरी अज्ञानता पर, मेरी तरफ दयाभरी दृष्टि से देखा, फिर बोले :

“विलियम ? विलियम, अरे वही विकटोरिया के पहले

(६२)

बाला, साइद वह यिकटोरिया का आप रहा, वही विलियमवा
हो, विलियमवा । ”

उनकी बात को मानने के अलावा मेरे पास और चार
ही क्या था ?



दिल्ली, फिर नई दिल्ली । यानी करेला और तिस पर नीम चढ़ा ।

दिल्ली, फिर नई दिल्ली, और नई दिल्ली का भी प्रमुख भाग कबीन्सवे और कबीन्सवे पर स्थित भव्य इम्पीरियल होटल । जो हाँ, इम्पीरियलिज्म तो हिन्दुस्तान से चली गई पर राजधानी में इम्पीरियल होटल अब भी कायम है । निकट भविष्य में इसके नाम का भारतीयकरण होना निश्चित है, जैसे अशोक होटल या राष्ट्रीय होटल, इत्यादि । और तब अवश्य वहाँ खद्दर के पर्दे टैगेंगे और ग्रामोद्योगों के सामाज अवश्य रखें जाएंगे । पर अभी तो आँखों को चकाचौंध कर देने वाली इम्पीरियल होटल की लपलपाहट में बाल-डांस होते हैं, शराब की बोतलों के फच्चारे छूटते हैं, काकटेल पार्टियों की भरमार रहती है और विदेशी आरकेस्ड्रा और बैंडों की धुन पर ऐश्वर्य एवं धन की अठखेलियाँ खेली जाती हैं, उनका अनवरत नर्तन होता है ।

और, नई दिल्ली के क्वीन्सवे के इम्पीरियल होटल का पिछवाड़ा ? क्वीन्सवे चिकनी एसफाल्ट की सड़क है तो होटल के पीछे गड्ढों से ओत-प्रोत, बरसात के बाद अगणित छोटे-बड़े तालाबों से सुसज्जित हो जाने वाली, नंगे पेरों में बुरी तरह गड़ने वाली, गिर्दियों की सड़क है । क्वीन्सवे और उस पर स्थित इम्पीरियल होटल जहाँ बिजली की रोशनी में चमकते-दमकते रहते हैं वहीं उनके पिछवाड़े अंधकार का साम्राज्य रहता है । क्वीन्सवे पर और इम्पीरियल होटल में सूटेड-बूटेड साहबान और लपलपाती साड़ियों एवं सलवारों से सुसज्जित महिलाएँ धूमती हैं तो पिछवाड़े, होटल के बैरे बीड़ी पीते धूमते हैं और धोबियों की भट्टियाँ चढ़ी होती हैं, जहाँ होटल बालों का कपड़ा धुलता है ।

इस पिछवाड़े में एक सुनिया रहती है । सुनिया का पहला परिचय इस प्रकार हुआ ।

दोबाल में ही जाने कैसे एक आलमारी को चिपकाकर एक दूकान बना ली गई है । आश्चर्यचकित कर देने वाली यह दूकान है । बीड़ी, सिगरेट, पान और माचिस—ये तो वहाँ प्रमुख रूप से बिकते हैं, पर इसके अलावा वहाँ प्राप्त हो सकने वाली वस्तुओं की काफी लम्बी तालिका है, जैसे सूई, धागा, पटाका, कंघी, तेल, शहद, साबुन, रोली, माथे की तिकुली, पतंग-डोरी, लटाई, इत्यादि-इत्यादि । आलमारीनुमा दूकान के नीचे के दर पर दो बाँस खड़े हैं और दूकान का मालिक इसी पर एक कोने में बैठकर सौदा बेचता है । इतना

ही नहीं, उसके बगल में आलमारी के निचले दर में ही चूल्हा भी जलता है और चाय और चावल तक पक जाते हैं ।

एक दिन इम्पीरियल होटल के एक बैरा महोदय, थुला दूध जैसा सफेद पैट-कोट पहने, बहुत ही शाधुनिक किस्म के इंगलिश कट के बाल कटाए, चमकते काले बालों पर चुह-चुहाता हुआ तेल लगाए और बीस नम्बर बाली बीड़ी सुलगाए दूकान के सामने स्टूल पर बैठे दूकानदार के लड़के को पढ़ा रहे थे । “शाइस्ता खाँ”, उन्होंने कुछ ऐसे हुए-से गले से कहा, “औरंगज़ेब का मामा था । वह बड़ा बहादुर था । एक बकरा रोज़ खाता था ।” और इसी के बाद उनकी दिल्कुल बदली आवाज में सुनाई पड़ा :

“ओ री सुनिया, ओ री सुनिया, तेरा कलुआ कहाँ है ?
कल आया या नहीं ? क्या ले गया कल वह ?”

और इसके बाद वह ही-ही-ही करके हँसे और मतलब भरी निगाहों से दूकानदार की ओर देखते हुए गा कर कहा “मोर सइयाँ न माने, दखिन चला जाय रे”, फिर हँसे, और फिर अपने गले में बही ऐंठपन लाकर दूकानदार के बालक को औरंगज़ेब के मामा शाइस्ता खाँ के सम्बन्ध में अपने ऐतिहासिक ज्ञान की शिक्षा देने लगे ।

पर इसी के बाद एक तरफ से तीखी और काफी महीन आवाज में, अवर्णनीय तो अवश्य ही, कल्पना से परे, रिसर्च बाली गालियों का जौसे फव्वारा टूट पड़ा । यह बौछार ऐसा लगा जौसे खत्म ही न होगी, शब्द एक के बाद दूसरे निहायत

आसानी के साथ जौसे निकलते आ रहे थे, काफी रफ्तार थी उस चक्रता की, और मार्के की बात यह कि उस बोली में कोई उतार-चढ़ाव न था, कोई तेश या आवेश न था, वह बराबर एक ही सुर पर कायम रही ।

यही आवाज सुनिया की आवाज थी ।

निगाहें दौड़ाई तो देखा दूकान से लगभग बीस कदमों की दूरी पर कपड़ों का जौसे एक ढेर चला जा रहा था । यही चलने वाला कपड़ों का ढेर सुनिया थी । वह चार लहंगे पहने थी कि पाँच या छः, कहना कठिन है । जगह-जगह फटे होने के कारण कई रंग दिखाई पड़े रहे थे । पर ये रंग ध्यान से देखने पर ही दिखाई पड़े । वैसे लहंगों पर गहरी काली कीट, मैल जमी हुई थी । स्पष्ट था कि सुनिया को जितने लहंगे मिलते गए सब वह एक दूसरे के ऊपर पहनती गई । फिर ऊपर सुनिया के शरीर पर एक कोट भी दिखाई पड़ा, जैकेट ऐसी कोई चीज भी समझाई पड़ी, कमीज भी थी, और कमीज के नीचे भी कपड़े अवश्य थे । और सर पर भी, कान को ढके हुए दो-तीन कपड़े की चौड़ी पट्टियाँ, सम्भवतः उनमें एक दुपट्ठा भी था ।

सारांश यह कि सुनिया कपड़ों का चलता-फिरता और बोलता हुआ ढेर लग रही थी । उसके चलने की रफ्तार बिल्कुल एक-सी, धीमे-धीमे एक लय में उसके मुख से निकलने वाली अवरणीय गालियों के ही अनुरूप । गालियाँ बक्ती हुई वह दूकान को पार कर उसके बहुत आगे भी निकल गई,

पर उसकी बोछार बन्द न हुई । गालियों का अगाध भंडार था सुनिया के पास ।

उस दिन से मैं सुनिया पर निगाह रखने लगा । इस प्रथम परिचय के कुछ ही दिनों बाद, नदी दिल्ली की सर्वी कड़ाके की हो गई थी, मैं रात में लगभग नौ बजे इम्पीरियल होटल के पिछवाड़े से निकला तो एक पेड़ के नीचे आग जलती दिखाई पड़ी । उसी आग के प्रकाश में देखा कि सुनिया कुछ ओढ़े हुए आग के बगल में पड़ी थी, सोती या जागती—यह नहीं कहा जा सकता । और सुनिया काँ चेहरा तो ठीकोठीक बहुत दिनों तक न दिखाई पड़ा, कारण कपड़ों से उसका कान, सर, घंगरह बहुत ढका रहता था ।

एक और दिन, सर्वी कुछ कम थी और ठीक दोपहरी में धूप भी कड़कड़ाई थी और मैं उस तरफ से निकला तो देखा सुनिया सड़क के पेड़ों के नीचे पड़ी सूखी लकड़ियाँ बीनती हुई कुछ बड़बड़ा रही हैं । और सुनिया की बड़ी विशेषता यह मालूम पड़ी कि वह अपना काम करते, अपनी बड़बड़ करते इस कदर व्यस्त एवं एकाग्र रहती कि ऐसा लगता कि मानो उसे अपने चारों तरफ के वातावरण का कुछ भी ज्ञान नहीं है । सड़क पर लोग आते हैं और जाते हैं, पर उसे जैसे इसका आभास ही नहीं रहता । यदि उस दिन इम्पीरियल होटल के बारे के प्रत्युत्तरस्वरूप सुनिया की भीषण प्रतिक्रिया मैंने न सुन ली होती तो यही समझता कि वह बज बहरी है, और ज्ञायब बम फटने पर भी उसका ध्यान नहीं बटाया

जा सकेगा ।

और क्या थी सुनिया की बड़बड़ाहट, उसी बे उत्तार-चढ़ाव वाली, तैश और आवेश से दूर, एकलय वाली आवाज में ? स्पष्टतः गालियों को छोड़कर, जो उस दिन भी उसके वाक्य-समूहों में प्रचुर भात्रा में थीं और पूर्ववत् ही कल्पना से परे, रिसर्च वाली थीं, उसके स्वगत-भाषण का सारांश यही था :

“इसने मुझे भार डाला । इसने मुझे बड़ी तकलीफ दी है । मैं उसके पीछे बरबाद हो गई । सब कुछ उसे दे दिया । दस दिन से नहीं खिलाई पड़ा । नहीं आया । मारकर गया था । पकाती हूँ, खिलाती हूँ । उस दिन उसे मैंने कलिया खिलाया था । सब पैसे झटक ले गया । हत्यारे ने मेरी जान ले ली । पता नहीं कब आएगा । हरामजादे ने इतना मारा कि पीठ अभी भी दर्द करती है । बड़ा जालिम है । हे ज़ालिम ! मैं क्या हो गई । खाना नहीं खाते बनता । अरे मैं मर जाऊँगी । पता नहीं कब आएगा । बड़ा हरामजादा है…… ।”

बड़ी लम्बी, न खत्म होने वाली थी सुनिया की बड़-बड़ाहट । और इसी दिन, सम्भवतः कड़कड़ाती धूप के कारण सर्दी कम होने की वजह से, उसके सर पर कपड़े नहीं लिपटे थे, मैंने सुनिया की सूरत को ठीक से देखा । काफी काली, स्वास्थ्य बहुत अच्छा, भरपूर यौवन । भरे कपोलों पर खून दौड़ रहा था, जिससे उसके कपोलों का काला चमड़ा भी ललाई की चमक लिए हुए था । बड़े काले और लम्बे बिखरे हुए केश । आँखों में जैसे नींद भरी थी, या जैसे नद्दों में थी ।

और उनमें कुछ तेजी भी भलकती थी । कद नाटा । पर बेहद गन्दी, कीचट समझिए कीचट । स्पष्टतः महीनों से उसके शरीर पर पानी नहीं पड़ा था । देखकर यह भी कहा जा सकता था कि सम्भवतः उसने कभी नहाया न हो ।

फिर ऐसे भी सौके आए जब मैंने सुनिया को नयी दिल्ली के फैशनेबुल कनाट सरकास में, रीगल या रिवोली सिनेमाओं के पास या ब्वालिटी, गेलार्ड, डैविको, जैसे ठाठदार रेस्टोरांओं के बाहर भीख माँगते देखा । “एक आना बाबूजी” कह वह हाथ पसारती और बाबू की तरफ जिन आँखों से वह देखती, उनमें बड़ा दर्द आ जाता । उस समय वह करणा की मूर्ति लगती, जो उसकी तरफ देखता अनायास उसे उस दीनहीना पर दर्द आ जाता, और मुझे स्पष्ट हो गया कि वह सिद्ध-हस्त भिखर्मंगिन है । अब्बल तो एक आने से कम न माँगना, ‘एक पैसा बाबूजी’ नहीं । भीख माँगते समय अपनी आकृति में परिवर्तन लाने में तो वह चतुर थी ही, किन बाबुओं के आगे हाथ पसारना चाहिए, यह भी वह खूब समझती थी । शायद ही कभी उसे निराश होना पड़ता । और मैंने यह भी देखा कि यदि कोई उसे फटकार देता तो वह तड़क से जवाब देती । “विगड़ते क्यों हो बाबूजी,” इतना तो वह कह ही देती ।

सुनिया मुझे उत्तरोत्तर रहस्यमयी लगती गई । कौन है वह, कहाँ का जन्म है, कैसे इम्पीरियल होटल के पिछवाड़े पड़ी रहती है, कौन वह ‘द मॉलम’ है, यह ‘कलुआ’ कौन है,



उन्होंने तड़ाक से जवाब दिया : “बिगड़ते क्यों हो बाबू जी ?”

उसका कोई है या नहीं ? इत्यादि-इत्यादि । और एक बात इसी बीच नयी दिल्ली में ऐसी सुनाई दी जिससे वह मुझे और भी रहस्यमयी लगने लगी । कई बार चेतावनी दिये जाने पर भी जब एक बुढ़िया भीख माँगती पाई गई तो पुलिस उसे पकड़कर थाने ले गई । तलाशी लेने पर उसके पास पैसठ रुपये निकले और एक बैंक की पास बुक भी निकली । पता लगा कि बैंक में उसका पंतीस सौ रुपया जमा है । और दूसरे दिन एक साहब बुढ़िया को जमानत करने आए । मालूम हुआ कि यह महोदय कंन्द्रीय सचिवालय में ओटे-भोटे अफसर हैं और बुढ़िया के बेटे हैं ।

यह तो स्पष्ट हो ही गया था कि सुनिया अति सफल भीख माँगने वाली है । हमने सोचा कि कहीं उसने भी मजे की रकम तो नहीं जोड़ ली है । और अनायास ही मस्तिष्क में यह विचार उठा कि कहीं यह रकम उसी पेड़ के नीचे तो नहीं गड़ी है, जहाँ इम्पीरियल होटल के पीछे सुनिया रहती है । कारण कह दिया जाय कि उस पेड़ के नीचे धीरे-धीरे, दिन, साताह और महीने बीतने के साथ सुनिया की अमल-दारी भी बढ़ती जा रही थी । पहले तो एक घेरामात्र था जो बहुत साफ रहता था, कूड़ा उस घेरे में नहीं उसके चारों तरफ ही दीख पड़ता था । इस घेरे की परिधि धीरे-धीरे बढ़ती गई । फिर यह भी देखा गया कि सड़क पर चलने वालों से कुछ आड़ करने की दृष्टि से धंरे की एक तरफ कुछ पेड़ों की टूटी डालें खड़ी कर दी गई हैं । और जिन जिज्ञासु

राहगीरों ने कुछ उचक कर सुनिया द्वारा इस प्रकार खड़े किये गये टटूर के उस तरफ देखने का प्रयास किया तो उनको मालूम हो गया कि टटूर के उस पार की दुनिया स्थिर नहीं है, उसमें तब्दीलियाँ होती जाती हैं। उदाहरणार्थ, जहाँ पहले सुनिया का खाना लकड़ी की हाँड़ियों में पकता था वहीं अब अलमूनियम का एक डेगचा दिखाई पड़ने लगा। कुछ सिगरेट के डिब्बे भी दिखाई पड़े जिसमें शायद वह मिर्च-मसाले रखती थी। फिर कुछ दिनों बाद एक टूटा हुआ संदूक भी दिखाई पड़ा। पता नहीं उसमें सुनिया क्या रखती थी। और वह भी देखा गया कि उस पेड़ के नीचे सुनिया की अमलदारी एक धेरे को छोड़कर चौखंटा रूप ग्रहण कर चुकी थी। पहले जहाँ पेड़ के नीचे एक गोलाकार बड़ा साफ सुथरा रहता था वहीं अब एक चौखंटी भूमि साफ रहने लगी।

जिस प्रकार बड़े से बड़े रहस्योदयाटन हो जाता है उसी प्रकार धीरे-धीरे सुनिया का रहस्य भी खुला। उसके ठीक जन्म स्थान का पता तो न लग सका, पर यह तो स्पष्ट हो ही गया कि वह उत्तर भारत की ही, सम्भवतः उत्तरप्रदेश के पश्चिमी जिलों की ही है। उसकी बोली कुछ वहीं बालों की ऐसी थी। और, एक दिना 'कलुआ' महोदय के दर्शन भी हो गए। शाम को लगभग चार बजे वह उसी पेड़ के नीचे सुनिया के साथ बैठे चाय पी रहे थे और साथ में एक बीड़ी भी सुलग रही थी। 'कलुआ' महोदय का रंग सुनिया जैसा ही था। वे एक खाकी पैंट, उस पर एक काला

कोट पहने थे । बाल इंगलिश कट का कटा हुआ था, जरूर उस पर कंधी की गई थी, मगर इस वक्त वे कुछ बिखरे थे । ओंठ बेहद काले थे जिसका कारण यही था कि वे



अन्धाधुन्ध बीड़ी पीते थे । उसी के कारण ही सम्भवतः जब वह खाँसते तो काफी खाँस जाते । उम्र उनकी यही लगभग चौबीस-पच्चीस साल की लगती थी । दाहिने कान में एक बाली पड़ी हुई थी, उसका रंग पीला था । सम्भवतः सोने की थी । ऊपर के बीच के दाँतों में भी सोना चढ़ा हुआ था, जैसा आपने बहुधा देखा होगा । आखे कुछ छोटी, भौंहें बड़ी काली । मस्तक काफी चौड़ा । स्पष्ट था कि 'कलुआ' नौकरी पेशा हैं, कहीं दफ्तर-वफ्तर में चपरासी बगैरह हैं ।

‘कलुआ’ महोदय का यह दर्शन, उनका और सुनिया का बड़े प्रेम और संतोष के साथ बैठे चाय पीना, फिर इम्पीरियल होटल के बैरे की वह बात और सुनिया का वह लम्बा स्वगत भाषण—इन सबों को जोड़कर तस्वीर बहुत कुछ साफ हो गई। हाँ एक बात और पता लगी। ‘कलुआ’ नाम तो होटल के बैरों वगैरह ने दिया। ‘कलुआ’ वास्तव में मद्रासी है। उत्तर भारत में हम जिसे मद्रासी समझते हैं, वह आन्ध्रप्रद्वान्तीय या तामिलनाड़ का हो सकता है, अथवा मलयाली या कर्नाटकी भी हो सकता है। इस दृष्टि से ‘कलुआ’ के प्रान्त का ठीक-ठाक पता न लगा। पर स्पष्ट है कि नयी दिल्ली को काफी बड़ी दक्षिण भारतीय जन-संख्या का ही वह एक रत्न है।

सर्य बीतता गया। बहुत दिनों बाद, महीनों बाद, एक दिन गोधूली बेला में मैं उधर से निकला तो एक नवजात शिशु का रोदन सुनाई पड़ा। और सुनिया के पेड़ के निकट पहुँचने पर देखा कि ‘कलुआ’ महोदय एक रोते बच्चे को गोद में लिए हिला-हुला रहे हैं, प्यार कर रहे हैं, इंगे-विंगे कुछ मद्रासी बोली में कहकर चुप करा रहे हैं। और सुनिया चूल्हा जला रही थी, पर साथ मे दाँत पीसकर “अरे हरामी, चुप क्यों नहीं मारता” कहकर ‘कलुआ’ के गोद के बच्चे को चुप कराने का प्रयास भी कर रही थी। जब रुलाई और तेज हुई तो उसने ‘कलुआ’ से बच्चे को अपनी गोद में ले लिया, और माँ की गोद में जासे हो वह शिशु शान्त हो गया।

और अब पेड़ के नीचे एक बाकाघदे, फूसों, पेड़ की दूटी

(७५)

डालियों, टटुरों, बगैरह से एक झोपड़ी बन गई है। 'कलुआ' महोदय वहाँ अब नियमित रूप से आते हैं, कम से कम रात का खाना नहीं खाते हैं और वहाँ विश्राम भी करते हैं। सुनिया अब भी अपने बच्चे के साथ, भीख माँगती दिलाई पड़ती है। हाँ, दो बातों का पता नहीं है। प्रथम 'कलुआ', अब सुनिया को मारता-पीटता है या नहीं? द्वितीय, नयी दिल्ली स्यूनिसिपल कमेटी या नयी दिल्ली की पुलिस ने अब तक इम्पीरियल होटल के पीछे, स्यूनिसिपल जमीन पर सुनिया द्वारा बनाई गई झोपड़ी को कायम कैसे रहने दिया है, उसे उखाड़ क्यों नहीं फेंका।

—
—
—



बाबू सर्ज प्रसाद चौरासिया

उस दिन, रोज की तरह, जब मैं यही सदा पाँच बजे के इर्द-गिर्द दफ्तर से लौटने के बाद साइकिल से उतर कर बाहिने पैर के पतलून की विलप निकाल बाएँ पैर की विलप निकाल रहा था तो थोड़ी दूर पर से मलू गुरु दिखाई पड़े, मुझे देख कर सरपट मेरी ओर दौड़े और बड़े उत्तावले से बोले : “भैया, आज चल गई, बहुत गहरी चली भैया, जो है सो । भैया, लोटा तो ऐसा चला—जैसे बम का गोला ।”

सिर से हैट उतारते हुए मैंने सोचा कि उस फाटक पर ‘चल जाना’ कोई विशेष बात नहीं, वहाँ तो आए दिन चला ही करती है, पर कैसे ज्ञात मलू गुरु आज इतने उत्तावले क्यों ? इसका कारण यह तो नहीं कि लोटे ने सब ही, येन-केन-प्रकारेरण, बम के गोले का ऊप धारण कर लिया ? पर दूसरे ही कारण उन्होंने स्थिति साफ कर दी । उन्होंने कहा :

“भैया, वही गैया के पीछे सरजुआ और भरतुशा लड़

गए, लोटै हींच-हींच के मारैं, सर फुटौवल हो गई, जो है सो । रपोटा-रपोटी हो गई, क्या कहें, बाह रे भगवान, बाह !”

मैं भी आकर्षण में पड़ा । सरजुंगा, यानी बाबू सूरज प्रसाद चौरासिया—मल्ह गुरु बड़े हैं, भले ही उन्हें सरजुंगा कहें पर मैं तो उनसे बहुत छोटा हूँ, वे मेरे बुजुर्ग हैं—कभी लड़ते नहीं पाए गए, वहाँ, जहाँ किन्हीं दो फरीकैनों में गाली-गलौज और भार-पीट होना नित्य का क्रम है । मनुष्य का स्वभाव है, कभी क्रोध आ ही जाता है, जैसा कहते हैं, बासी कढ़ी में भी उबाल आ जाता है ।

बाबू सूरज प्रसाद को मैं बचपन से जानता हूँ । मैं बहुत छोटा था, यही सात आठ साल का, तो सुहल्ले में कबड्डी हुआ करती थी । उसमें वे ही सबसे अधिक आकर्षक हुआ करते थे । जहाँ उनके पाहले से विरोधी पक्ष वाला निकला तहाँ एकदम से जाने कहाँ से उछलकर बाबू सूरज प्रसाद विरोधी के पाहले में लुप्य से पहुँच जाते और उनके मुख से श्विरल चाणी बिजली फी सी तेज रफ्तार से निकलती :

“छल कबड्डी, कबड्डी, कबड्डी…………”

वे किसी को टंगड़ी नारते, किसी को फुदक कर छूने का अपास करते, और वही ‘कबड्डी’ की रुधी ध्वनि निकालते, सांस तोड़ते, अपने पाहले में आ जाते । उनका कमाल, उनकी कुर्ती बस देखते ही बनती । फिर कभी उनकी ‘बड़ बड़ बड़ बड़ बड़…………’ की ध्वनि ‘छल कबड्डी’ के स्थान पर

लगती । पर सबसे अच्छा तब लगता जब वे यह कहते कबड्डी
जाते—

“छल कबड्डी आल-ताल,
मर गए मदारीलाल,
जिनकी मूँछें लाल लाल लाल……”

इस कथन में एक राग होता, एक लहजा होता, एक
मस्ती रहती, और मैं हैरत में रहता कि यह लाल मूँछों वाले
मदारीलाल कौन हैं बेचारे जो मर गए ।

स्पष्ट है कि ऐसे बाबू सूरज प्रसाद का मेरे ऊपर
स्वभावतः गहरा प्रभाव पड़ा । बाद में जब मैं बड़ा हुआ,
और वे मुझ से भी बड़े हुए—इस समय वे पचास पार कर
यही चौबन-पचवन में हैं—तो वे बामन देव के अवतार सिद्ध
हुए । तेरह या चौदह वर्ष की अवस्था पाने के बाद उनकी
बाढ़ स्क गई । उनका सर बहुत बड़ा हो गया, लम्बाई उनकी
बस तीन सवा तीन फुट रह गयी । वे ऐसे हो गए कि दूर से
ही लोगों की निगाह उन्हीं की तरफ जाती । उनकी आल-ढाल,
घुटने तक उनकी धोती और उसी घुटने तक लटकता उनका
कुर्ता, गर्दन में या सर पर लाल अंगौँछा—ये सब अनायास
उनके व्यक्तित्व के निरालेपन को सिद्ध करते । और, कुछ
लोग भरतुआ किस्म के, ‘सरजुआ’ की बजाय उन्हें ‘सरजू
बौनवा’ कहने लगे ।

वास्तव में यह भरतुआ टाइप जन्म भर उन्हें लंग करते
रहे । कभी दूर से ढेला भार देना, कोई और मजाक कर

देना, ऐसा निर्लंजन व्यवहार वे हमेशा उनके प्रति करते रहे । बाबू सूरज प्रसाद ने उनको रोकने के सब-सब हथकड़े इस्तेमाल किए, यहाँ तक कहु दिया कि “अब की किया तो मैं फौजदारी कर देऊँगा”——पर कोई आसर न हुआ ।

बहरहाल, भरलू-बरतू किल्ले के, बाबू सूरज प्रसाद के शब्दों में, ‘लफगे’ तो दुनिया में होते ही हैं, पर वे उनका कुछ खिगाड़ न पाए । उनको भगवान् की दया से अस्सी साल पुरानी गही भिली थी । उनके बड़े भाई गजाधर अपने जमाने में लड़े दांगली थे, बड़ी-बड़ी कुश्टियाँ उन्होंने मारी थीं । अगर कभी भी गजाधर भैया से सूरज इशारा कर देते तो उनकी खोपड़ी वे चूर छार देते, पर उन्होंने कहा, “अरे जाने देव, लौड़े हैं, कौन उनके मुँह लगे भैया, लौड़ों की दोस्ती जिव का चांचाल ।” और यह कि “बुरे करम का बुरा नतीजा, जो जस करी सो तस फल चाखा, भैया ।” और पुरखों की दया से, अस्सी साल पुरानी उस गही के प्रताप से, बाबू सूरज प्रसाद एक से एक बड़ी सोसायटी में पहुँचने लगे । एक तो यह कि जब कभी लाटसाहब शहर आते और गार्डन पार्टी देते, और यह पार्टी साल में दो बार तो कम से कम होती ही, तो प्रान का ठेका गजाधर भैया को ही मिलता । ऐसे दिन बाबू सूरज प्रसाद चूँझियादार पंजामा पहनते, अंगरखा पहनते, सर प्रर बुराक, कलफ की हुई कामदार दुपलिया पहनते और पार्टी में सुनहली पान की तस्तरी लिये-लिये लोगों को पान खिलाते दूसरे । गजाधर भैया अलीगढ़ जिले की सिक्कदराराङ्क तहसील

के गुलाब के जंगल में दो भूमीने बिताकर जो गुलाब का इत्र लाते थे, उसकी सबसे बढ़िया बवालिटी बाबू सूरज प्रसाद औरासिया को गमकाती रहती । जो साहब और मेम पान नहीं खाते थे वे, भहज उनके व्यवितर्त्व को निकट से देखकर, अपना भनोर्जन करने के लिए उनको बुलाकर पान खाते । और शहर के रईसों का तो क्या कहना ! 'सरजुआ' की सर्वत्र माँग रहती, सर्वत्र बाबू सूरज प्रसाद को जाना पड़ता ।

इन्हीं गार्डन पार्टियों में बाबू सूरज प्रसाद का विच्छिन्न बड़ा व्यापक हुआ । शहर कोतवाल से लेकर कलेक्टर कमिश्नर



तक सूरज को जान गए । उनमें से कुछ ने उनको अपने घर पर बुलाया । सूरज प्रसाद पान की खोंगी लिए गए मिलने ।

उन्होंने आनंदर से अपनी मेस को बुला कर सूरज प्रसाद से उनकी भेट कराई। कुछ मसखरी निकली तो उसने बाबू सूरज प्रसाद चौरासिया को मेज पर खड़ा कर उनसे हाथ मिलाया, और साहब ने इस रूप में उनकी फोटो उतारी। किसी ने सूरज से कह दिया था कि “धबे बोलना भत, बस हँसते रहना और कहना तो ‘यस सर’ के अलावा कुछ नहीं।”

कलेक्टर बगैरह साहबों के घर जाना, गोरी मेसों से हाथ मिलाना और साथ में फोटो लिचवाना, यह कोई मामूली बात तो थी नहीं। इसीलिए तो जब भरतू-वरतू सूरज को छेड़े तो वे यह भी कह दिया करें कि “जाब यार”, भले आदमियों के साथ बैठने लायक नहीं हो। हम जंट राहब के यहाँ जाते हैं, तुम्हारे क्या मुंह लगें। पर जब न रहा जाएगा तो वह जंटवा की मेसिया से कह के बेटा तुमको ढाई लाख की बिल्डिंग ही भांकवा देऊँगा।”

‘ढाई लाख की बिल्डिंग’ से बाबू सूरज प्रसाद का भतलब जेल से रहता है। वास्तव में जब सन् १९३०-३२ में कांग्रेस का आनंदोलन चला था तो वे वहाँ जाने पर उतावले हो गए। उन्होंने कांग्रेस का बड़ा काम किया। उनकी दूकान के नीचे एक बड़ा-सा पत्थर जाने कब से रखा रहता था। वहाँ वह कांग्रेस की बुलेटिन छिपा देते और अलग-अलग मोहल्लों के लोग आकर उन्हें उठा ले जाते। यहाँ तक हुआ कि सी० आई० डी० वाले वहाँ खड़े रहते, बाबू सूरज प्रसाद उनको पान खिलाने में और बात में फँसा लेते और लोग नीचे से बुलेटिन

उठा ले जाते । यह तो इत्तकाक था कि वे पकड़े न गए । वे तो नमक दानून तोड़ कर खुले आम जेल जाने पर उतारू थे । पर गजाधर भैया ने रोक दिया । और एक दिन बाबू सूरज प्रसाद ने उस विकट स्वातन्त्र्य संग्राम में अपना मौलिक योग दिया ही । पार्क में किन्हीं नेता का भीषण भाषण हुआ । भाषण के बाद नारे लगे । नारों के अन्त में एक ने पुकारा :

“कौमी नारा ।”

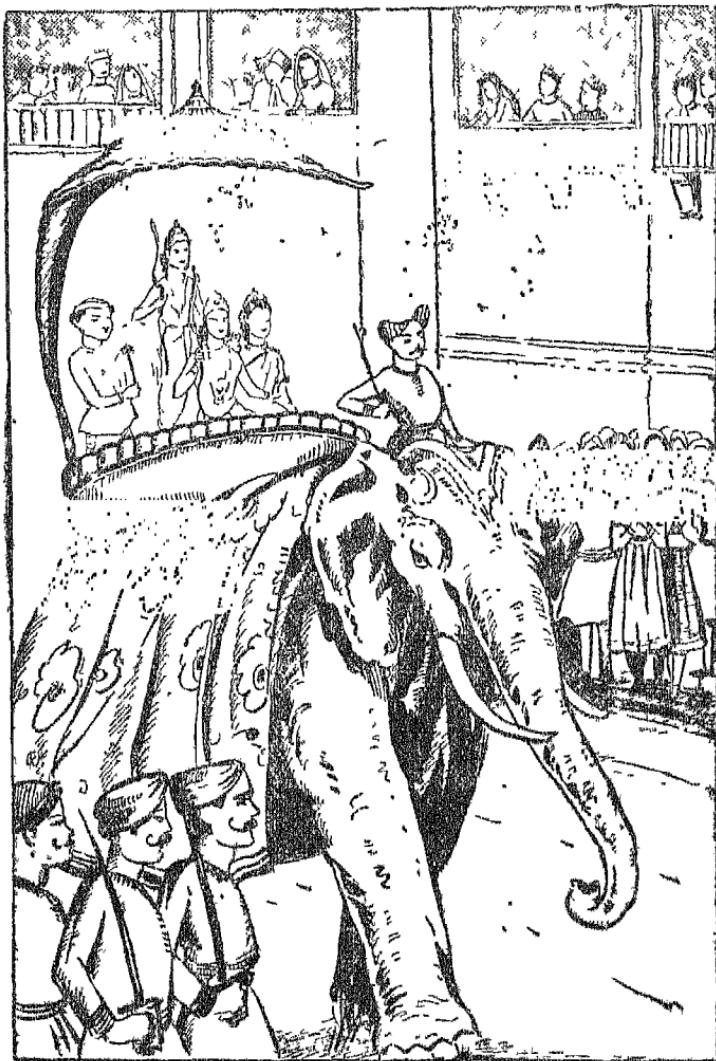
जनता गर्जी “बंदे ।”

और ‘बंदे’ की गङ्गड़हट जैसे ही समाप्त हुई कि अकेले बाबू सूरज प्रसाद चौरासिया का गगनभेदी नाद उस पार्क के गगन पर व्याप्त हुआ कि :

“विलायत बाले अंधे ।”

कहना न होगा, इस मौलिक नारे ने बाबू सूरज प्रसाद को बड़ा ही लोकप्रिय बनाया । वह नारा उस ऐतिहासिक तिथि को ही उस पार्क से निकलकर सारे शहर पर छाया और वहाँ से प्रदेश भर में व्याप्त हो गया ।

पर यह सब तो कुछ नहीं, उनका व्यक्तित्व तब सबसे प्रखर होता जब रामलीला और दशहरा का भौका आता । पहले तो बाबू सूरज प्रसाद हाथी पर भणिजित सुवर्ण हृदे में सुशोभित राम भगवान के पीछे लैठे उनको ज़ंबर हाँकते थे । सारा शहर कहता “वह सर्जू बौना घैठा है ।” फिर उन्होंने विचार बदला । उन्होंने विरजिस बनवाई, घुड़सवारों द्वारा



बाबू सूरज प्रसाद हाथी पर मणिजटित सुचर्ण हौदे में सुशीभित राम
भगवान के पीछे बैठ उनको धंघर होकर

पहना जाने वाला कोट बनवाया, हैट खरीदी, घुड़सवारीं वाली पेटी-बेटी पहनी और रामदल में घोड़े पर निकले। कलेक्टर आये तो सबसे पहले ग्रामी आकर उसे बै सलाम किया करें, यही रवैया उनका रहे पुलिस कप्तान की तरफ। और वे भी बाबू सूरज प्रसाद का आदर करें, बहुधा तो बाबू सूरज प्रसाद अपना घोड़ा कलेक्टर के बराबर ही चलाएँ, और उनका घुड़सवार वाला रूप सारे शहर को हँसा दे, जिधर जाएँ उधर सूरज प्रसाद की पूँछ रहे, सब ही उनसे कुछ मजाक करना चाहें।

पर इधर कई साल से घोड़े पर नहीं चढ़े हैं। बात करो तो कहते हैं : “भैया सब करके छोड़ दिया, जो जमाना हमने देखा और जो हमने किया वह आजकल के लौड़ों के लिए सपना है, सपना !” अब कुछ स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता। वे अविपाहित रहे, इसका उनको हृदय से दुख है। जब वे जीवन थे और अपनी गाय लिए घूमते थे तो पास की एक मोदियाइन के यहाँ बैठा करते थे। बगल में भूसा-खली की दूकान थी, मोदियाइन तो घड़ा, सुराही बगैरह बेचती थी। कुछ लोगों ने आवाजा-तावाजा भी कसना शुरू किया। पर वास्तव में बात कुछ थी नहीं। लड़ाई के जमाने में बाबू सूरज प्रसाद ने कोशिश कर मट्टी का तेल बेचने का लायसेन्स पा लिया। तब उन्होंने गाय निकाल दी। लड़ाई के बाद जाने कहाँ से एक भगाई हुई चौरासिया कन्या छुड़ाकर मोहल्ले में लाई गई। बाबू सूरज प्रसाद ने बहुत चाहा कि उसी से उनका

विवाह हो जाए । मुझ से कहा कि गजाधर भैया को मना लो और मैंने कोशिश भी की । पर गजाधर टस से भस न हुए । सूरज भन मसोत कर रह गए ।

और अब म्युनिसिपैलिटी का चुनाव आने वाला है । लोगों ने बाबू सूरज प्रसाद से कहा कि तुमको खड़ा होना चाहिए । और वे खड़े हो गए हैं । एक नोटिस निकल चुकी है । सब से वे दिन भर यह बताते रहते हैं और सबों ने उन्हें पूर्ण समर्थन का बचन दिया है । खेद है कि स्थानाभाव के कारण हम उनका चुनाव-नोटिस यहाँ नहीं दे पा रहे हैं । वे यह भी चाहते हैं कि उनकी फोटो अखबार में छप जाए । बाबू सूरज प्रसाद चौरासिया पंडित जवाहरलाल नेहरू को जानते हैं । वे उनको भी अपना पान खिला चुके हैं । शीघ्र ही वे पंडित जी से अपनी म्युनिसिपैलिटी की उम्मीदवारी का समर्थन पाने के लिए दिल्ली जाने वाले हैं । अभी बहत तथ होना बाकी है । उधर उनके शहर में कुछ लोगों ने यह कविता लिख मारी है :

खब भशहर है शहर में यह खबर,
सरजू बौना बनेगा शहर का मिदर,
परेशां है दास जी सुन यह खबर,
बचेगा कैसे बया का यह घर ।

दास जी बाबू सूरज प्रसाद चौरासिया के शहर की म्युनिसिपैलिटी के एकजीक्यूटिव आफिसर हैं ।



पोंगल आफ दि बड़े

पोंगल गुरु को 'आफ दि बड़े' का खिताब तो बहुत बाद में

प्राप्त हुआ, बस्तुतः उसके पूर्व ही वह अगणित नामकरण को प्राप्त हुए, 'आफ दि बड़े' वाला तो था कहिए कि उस अनोखे जीवन का चरम परियाक स्वरूप था। उनको उन थोड़े से इनें-गिने भाग्यशाली व्यक्तियों में रखा जा सकता है जो इहलोक में आने के साथ ही अनेकानेक नामों से विभूषित हो जाते हैं।

पोंगल गुरु जब इहलोक में पधारे तो उनके धर में बड़ी सुशिरियाँ मनाई गईं। और वह स्वाभाविक भी था। ऐसा नहीं कि उनके पूज्य पिताजी निःसन्तान थे। नहीं, सन्तानें हुईं, पर वे सब कत्याएं थीं। दो तो गुजर चुकी थीं, एक का विवाह हो चुका था, एक ब्याहने थोगथ थी, और एक यही दस-बारह वर्ष की थी। पोंगल के पिता जी चित्तित थे, बुढ़ापा आ रहा है,

क्या होगा ? कहते हुए तो वे यह भी सुने गए कि अब तो पका आम हूँ, किसी दिन भी चू सकता हूँ, तब मुझे पानी कौन देगा ? घर में होने वाली कथाओं में वह सुन चुके थे कि जिन पितरों को जल नहीं दिया जाता उनका जीवन परलोक में रौरक-नक्क हो जाता है । मरणोपरान्त अपने उसी भावी भविष्य की कल्पना करते वह रात-रात भर जागते रह जाते । और, कहने वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि जब उनकी पत्नी को फिर सन्तान होने को हुई तो उन्होंने उससे साफ कह दिया कि अबकी लड़की हुई तो ठीक न होगा, मायके भेज दूँगा, दूसरी ब्याह लाऊंगा । पत्नी बहुत रोई, मानता-मनौता भी माना, तब कहर्छे पोंगल पधारे ।

तस बारह वर्ष बाद घर में सन्तान का होना, वह भी युत्र रत्न, प्रसन्नता की बात तो थी ही । पोंगल रात के प्यारे हुए । काफी मोटे-ताजे वह इहनोक में पधारे, और भगवान की असीम अनुकम्पा से उनका वही रूप आजीवन रहा । गुलगुले थे तो पिताजी ने गुल्लू नाम रख दिया, कुछ पुलपुले से भी थे तो माता ने पुल्ल पुकारना शुरू किया, कुछ थलथल हे थे तो बहनों ने थलथल कहना शुरू किया । रो-रो कर पोंगल नाक में डम कर दें तो मौसी ने करवभ नाम रख दिया । गर्जे यह कि काफी नाम उनके शिशुकाल में ही पढ़ गए ।

फिर पोंगल बड़े हुए । जब चार या पांच वर्ष के हुए तब ही वह खूब बोलने लगे । पर जुबान साफ नहीं निकलती थी । क, च इत्यादि कई व्यंजन उसके मुख से 'ट' के ही रूप में

निकलते थे । पिताजी जब पूजा करने लैठते तो वह भी बगल में बैठते । पिताजी उनको चंदन लगा दें और तब पत्नी को बूला कर दिखाएँ कि देखो कितना दिव्य जनता है । एक दिन जमूना किनारे जो आम के सघन वृक्ष हैं, जहाँ जो जोगिया बाबा एक झोपड़ी में बर्बो से रहते रहे हैं, और जिनके पोंगल के पिताजी गहरे भक्त हैं, घर पथारे । पोंगल सामने प्रस्तुत किए गए । बाबाजी ने उनको आशीर्वाद दिया, पिता से कहा जहाँ तेजस्वी बालक है । पिताजी प्रसन्न क्या, गदगद हुए । इतने में पोंगल बोल उठे :

“अरभं टा डेठेव, जब टंडन लडौबे टब डेठेव ।”

पिताजी और भी प्रसन्न हुए, और महात्मा जी भी प्रसन्न तो हुए, बालक के कथन का अर्थ समझना चाहा तो उन्होंने बताया कि बेटा कह रहा है कि अभी क्या देखा, जब वह चंदन लगा लेगा तब देखना । अस्तु ।

कुछ और बड़े हुए, मुहूर्ले के लड़कों के साथ पोंगल जब कुबड़ी, कोना-कोनीवल, चोल की दिलोर, इत्यादि, खेलने लगे लाल भी उनके कई नाम पड़े गए । खेलते-खेलते उनको प्यास लगी तो सामर चौक के नल पर वह पानी पीने गए जहाँ दक्षिण चूने वाले बाली भर कर लोटे से नहा रहे थे । मानी तो दक्षिण ने पिलाया, जूलू से, पर अन्त में एक गहरा छींदा पोंगल के मुँह पर मार दिया । पोंगल बिगड़े, होले के ही एक लड़े जा रहे थे, पोंगल ने उनसे ब्रेवनापूर्वक कहा कि “देखो भैया, मुझ गरीब पर पानी बाल दिया ।”

दक्खी को पोंगल की बात पर बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ, और जो एक दो थे, वे भी हँसे ही, और उसी दिन से दक्खी ने उनका नाम रख दिया “गरीबदास”। जहाँ कहीं दक्खी को पोंगल दिखाई पड़े वहीं वह दूर से ललकारें, “वधा गरीबदास!” स्वभावतः यह नाम प्रचलित हुआ। और भी नाम पड़े। जाने वयों कुछ ने उनको ‘गुड़नताऊ’ कहता शुरू कर दिया, कुछ लोग उनको ‘लोखटी’ भैया कहने लगे। इन सब ही नामकरणों के पीछे कुछ न कुछ इतिहास है जिसकी गवेषणा होना शेष है।

पोंगल तो भुज से बहुत बड़े हैं, हमारे अध्यापक रहे, उपर्युक्त बातें तो हमने सुनी-समझी। मेरा व्यक्तिगत दुर्भाग्य यह रहा कि काफी दिनों तक मैं उनको जान ही न सका, या यूँ कहिए कि उनको कुछ का कुछ समझता रहा। किस्ता यह है। मैं रोज अपने चाचा के साथ पंचमुखी के वर्णन को जाता था और बगल में ही स्थित महाबीरन भी निष्ट जाते थे। घर से वहाँ जाने के लिए घास की गली को पार कर, कूचा भलूकदास होते हुए, चूड़िहारिन ठोला से निकल कर, चौधरी साहव के अहाते को नापते हुए हम चौक मक्खनदास डाक कर तुरकाने पहुँचते थे। तुरकाने से ओड़ा बाद ही पंचमुखी थे। तो यहीं, चौक मक्खनदास और तुरकाने के संगमस्थल पर ही लगभग एक ऊंचा सा मकान था, पांच-सात सीढ़ी चढ़ कर वहाँ पहुँचा जा सकता था। छपड़हा मकान था, दीवाल साफ, सफेद चूने से पुती रहती थी और मेरी हैरानी की बजह यह हुई कि

उसी दीवाल पर काफी बड़े हरूकों में यह लिखा था

बी. प्रसाद

भंगड़ सुल्तान

ऐंग्लो-मुस्लिम

मेरी समझ में नहीं आया क्या भासता है, यह भंगड़ सुल्तान और ऐंग्लो-मुस्लिम का क्या रहस्य है, पर सोचा कि होणा भाई कुछ। हाँ, वहीं में पोंगल को अक्सर दहलता हुआ, या बैठा हुआ, या बातें करता हुआ पाता था, और जाने कैसे, किसी प्रकार मेरे भस्तिष्ठ में धारणा जम गई कि हो न हो ऐंग्लो-मुस्लिम यही हैं। मुझे कौतूहल अवश्य रहा, पर इन तमाम भेदों की तक्सील में कौन जाता।

पर एक दिन स्थिति साक हो गई। पोंगल मेरे पड़ोस में मेरे बचपन के एक साथी लंगोटिया का टूपूशन करने आते थे। मैं देखता तो समझ जाता कि वही ऐंग्लो-मुस्लिम आए हैं, पर हम को क्या, लोग आते-जाते ही रहते हैं। पर एक दिन पोंगल ने मेरे लंगोटिया को पढ़ाते-पढ़ाते बड़ी जोर का थप्पड़ मारा और वह जोर से रोने लगा। मैं उस बक्त यास ही खेल रहा था, आवाज सुनी तो दौड़ गया। तब निम्न चातालिय सुनाई पड़ी :

“मास्टर साहब क्यों मारते हो, ठीक तो सुना दिया।”

पोंगल ने कहा : “रोज तुम को समझते हैं कि फरवरी २८ की है, तब भी तुम रोज ३० की बताते हो।”

रोते हुए ही मेरे लंगोटिया ने कहा : “मास्टर साहब,

आपने ही तो बताया है कि फरवरी गड्ढे में है ।”

पोंगल गुह ने कहा: “अबे तो फरवरी क्या अप्रैल, जून, सितम्बर, नवंबर, सब ही गड्ढे में हैं, हाँ फरवरी २८ है, बाकी सब ३० हैं । हाँ, जो सन चार से बांट जाए तो फरवरी २६ हो जाती है ।”

मैं बड़े खबकर मैं पढ़ा कि यह कौन सा गड्ढा है जिसमें फरवरी ही क्या अप्रैल, जून, नवंबर वर्गेरह सब ही पहुँच गए ? जैसे ही भास्वर साहब गए, मैंने उत्कंठा से आपने लंगोटिया से पूछा । तब उसने हाथ की मुद्राओं बांध, मुद्राओं उलट कर, उस प्रकार बनने वाले चार उच्चवों और तीन गड्ढों को दिखा कर समझाया कि कौन भूतीनों में कितना दिन होता है । उसे पोंगल ने उसी प्रकार समझाया था ।

उसी दिन ही मुझे यह पता लग गया कि पोंगल गुह भंगड़ सुलतान या ऐंग्लो-सुस्लिम नहीं हैं, वह तो उनके एक पढ़ोसी का नाम है । शीघ्र ही भेरा नाम भी समाज मंदिर स्कूल में लिखाया गया और तब मुझे पता लगा कि पोंगल वहाँ हिन्दी पढ़ाते हैं । और तब तो मैंने उनको खूब जाना । यहाँ भी उनके अनेक नाम पड़ चुके थे । स्कूल में भर्ती होने के साथ ही मैंने सुना :

समाज मंदिर हाई स्कूल,
नीचे डंडा ऊपर रूल,
दूटी बैच सड़ा स्टूल,
जहाँ पढ़ाते पोंगल फूल ।

प्रायः प्रत्येक सहपाठी को इन लाइनों को दोहराते हुए
मैंने सुना और पोंगल गुरु का रूप रह-रह कर मेरी आँखों के
सामने आने लगा । पर यह तो केवल शुरूआत थी । वहों तो
लाइनों की एक पूरी लड़ी ही चल पड़ी थी और उन लाइनों
में पोंगल के विविध रूपों की चर्चा आती थी । वे कुछ इस
प्रकार थीं :

घंटा खोला टनननटन,
स्कूल की कुंजी हुई बन्द,
जिससे निकले मिस्टर मैकेन्जी,
मिस्टर मैकेन्जी ने करी काल,
जिससे आए मिस्टर वाल,
मिस्टर वाल ने खोला ताला,
जिससे निकले मिस्टर काला,
मिस्टर काला ने खोली किवाड़ी,
जिससे निकले मिस्टर तिवाड़ी,
मिस्टर तिवाड़ी ने करी पुकार,
जिससे आए नानाप्रकार,
नानाप्रकार ने खोदी क्यारी,
जिससे हुए वे चकारी,
चकारी को हुआ जब बेबी,
खूब खाई तब उन्होंने जलेबी ।

जरा ध्यान दीजिएगा, मिस्टर मैकेन्जी, वाल, काला,
तिवाड़ी, इत्यादि, तो ये-न-केन-प्रकारेरेण निकले । पर जब एक
बार मिस्टर तिवाड़ी की पुकार पर नानाप्रकार आ गए तो

वे ही चकारी, जलेबी होते चले गए । और सच तो यह है कि ये तीनों नाम, यानी नानाप्रकार, चकारी व जलेबी पोंगल के ही विविध नाम हैं जो स्कूल में किसी न किसी कारण रख दिए गए ।

नानाप्रकार, यह नाम तो उनका कुछ यूँ पड़ा । दो तीन दर्जों को पड़ा कर पाँचवे घटे में पोंगल सातवें दर्जे को हिन्दी पढ़ाने पहुँचे । कुछ थके-से थे, दर्जे में आते ही वह बोरे के समान कुर्सी पर गिरे और हाथ की दुहनियों को मेज पर अड़ा और हथेली पर ठुड़दो जमा कुछ भयकी-सी लेने लगे । नेत्र उनके बंद थे, इतने में गश्त करते हुए प्रिसिपल साहब दर्जे के बाहर आकर खड़े हो गए । एक दो भिन्नट ही वह रहे होंगे, पोंगल की मुद्रा तिग रहे थे कि अगली सीट पर बैठे एक सहपाठी ने धीरे से कहा : “पंडित जी, प्रिसिपल साहब !”

पोंगल ने चौंक कर आँखें खोलीं, प्रिसिपल सामने दिखाई पड़े, उनकी रुह फना हो गई, चेहरा फ़क्कर हो गया पर दूसरे ही अण वह भूम कर कुर्सी से उठे, चाक से ब्लैक बोर्ड पर कुछ लिखा और गर्ज कर बोलने लगे “बच्चों मैंने तुमको नानाप्रकार की बातें बताई हैं, हमने सर्वनाम एवं विशेषण के नानाप्रकार तुमको समझाए हैं, कबीर, सूर व तुलसी इत्यादि भारत के नानाप्रकार के कवियों व शिवाजी, राणा प्रताप इत्यादि नानाप्रकार के वीरों का वर्णन बताया है, पर पूछने पर यहाँ जो नानाप्रकार के बालक बैठे हैं एक भी उत्तर नहीं देता तो दुख होता है, इसी दुख में मैं कुर्सी पर बैठा नानाप्रकार के विचार कर रहा था ।”

उस समय या उसके बाद पोंगल की प्रिसिपल से कैसे निभी, इसे तो छोड़िए। पर उसी दिन से वह नानाप्रकार नाम से प्रसिद्ध हो गए। स्कूल के बरंडों में वह आते-जाते दिखाई पड़े तो कुछ लड़के पीछे से आवाज दे दें : 'क्या नाना-प्रकार !' वे खीझे, बिगड़े, पर जितना ही वे बिगड़े उतना ही 'नाना-प्रकार' नाम उनको चिपकता गया।

'चकारी' नाम को वह कैसे प्राप्त हुए यह तो हमको पता न लगा, पर जलेबी नाम का रहस्योदयाटन हो गया। कहते हैं कि वह एक दिन महाजनी टोले में एक रईस ककड़ जी के यहाँ पहुँचे, जिनका लड़का वैसे ही स्कूल में भर्ती हुआ था। यह उनका पुराना क्रम है। जैसे ही कोई रईस, धनी-मानी का लड़का उनके स्कूल में नाम लिखाता, उसके कुछ ही दिनों के अन्दर वह उनके घर पहुँचते, पिता या वालिव पर स्कूल में अपना कुंजी-प्रद प्रकट करते और स्वभावतः सत्कार, आदर और मुख्यतः मिठाई खाने को पाते। महाजनी टोले जब वह पहुँचे तो ककड़ जी के मकान के सामने ही पुत्र हलवाई गरमागरम जलेबी उतार रहा था और पोंगल ने सोचा कि आज तो बस यही छकेगी, पर, महान आश्चर्य, वहाँ उनकी ओर ध्यान लगभग नहीं ही दिया गया। कारण यह कहा जाता है कि लड़के के एक चाचा स्वयं पास के ही एक स्कूल में पढ़ाते हैं, पोंगल के तरीकों से बाकिफ थे। खीझे पोंगल ने डेढ़-पाव जलेबी अपने जेब से खर्च कर मँगवाई, ककड़ जी के दरवाजे पर ही पड़े तक्त पर बैठ कर उनका

भक्षण किया, कवकड़ जी के घर से ही जल मँगवा कर पिया, और इस तमाम दौरान पास ही खड़े कवकड़ जी के बालक को अनेकानेक मुद्राओं से देखा और फिर घर चले आए। दूसरे दिन जब वह कवकड़ जी के लड़के वाले दर्जे में पढ़ाने गए तो बड़ा गर्जे-तर्जे। उन्होंने काफी बातें कहीं। कहा : “मैं स्कूल के बालकों के घरों पर जाता हूँ। मेरा वहाँ आदर होता है, ऐसे भी रईस हैं जो फिटन भेजकर मुझे बुलाते हैं। पर अब तो रईस सरईस हो रहे हैं। जब मैं ऐसे सरईस रईसों के यहाँ जाता हूँ तो कोई माँगने नहीं जाता। कल ही मैं एक रईस के दरवाजे द आने की जलेबी खाकर आया हूँ। जलेबी खाने के लिए मैं रईसों का भुँह नहीं ताकता। जलेबी खाना था तो खाया, द आने को मैं कुछ नहीं समझता। जलेबी अच्छी थीं। पर जलेबी खिलवाने को कौन कहे, जलेबी खाने पर पानी को नहीं पूछा जाता, माँगना पड़ता है। रईस सरईस हो रहे हैं बच्चो, यह समझ लो ।”

उस समय तो पूरा दर्जा हक्का-बक्का पोंगल गुरु के भाषण को सुनता रहा। पर पोंगल को क्या मालूम था कि वह भाषण उनकी जान को लग जाएगा। दूसरे दिन से ही वह जलेबी नाम से पुकारे जाने लगे। लड़के लोग उनके दर्जे के पहले ब्लैकबोर्ड पर जलेबी की शब्द बनाने लगे। रास्ते में ‘जलेबी’ की आवाज उन पर फैकी जाने लगी।

और अभी जलेबी का बाजार गर्म ही था कि एक और कांड हो गया। इंटरवल था, सब टीचर टीचर्स-रूम में बैठे थे।

एक बड़ा मेज था, उसके चारों ओर कुसियाँ रखी थीं, और एक कुर्सी पर पोंगल भी डटे थे । जाने क्या बात चली, विवाद बढ़ता गया, तब पोंगल ने भी निम्न वाक्य द्वारा उसमें योग दिया । वे बोले :

“क्या होत चिचियाय ते जब चिड़िया चुग गई खेत ।”

हाल ही में एक सिधी महोदय हिस्ट्री के टीचर होकर आए थे, हिन्दी का ज्ञान उनका सीमित ही था, वे न समझ पाए तो पूछा : “पंडित जी, यह ‘चिड़िया का’ बात आप क्या बोल गए ?”

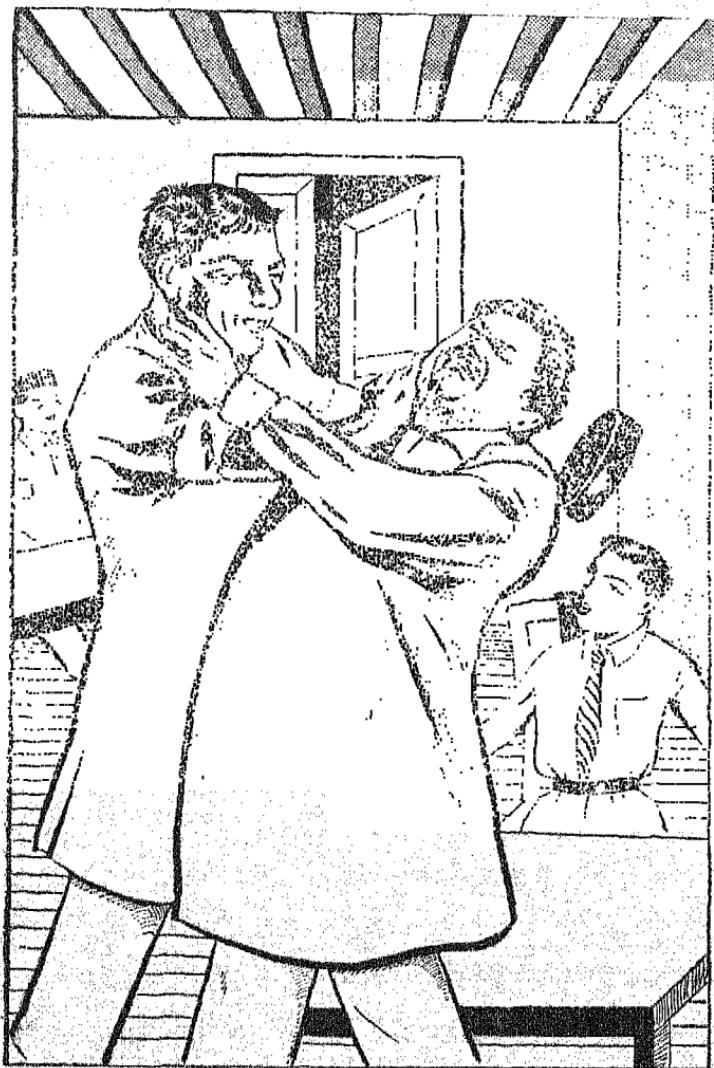
पास में मिस्टर कपूर बैठे थे । पोंगल का मजा लेने वालों में वह भी थे और बातों द्वारा, दोस्त बनकर, पोंगल को भड़का देने की कला में वह सिद्धहस्त हो गए थे । पोंगल भी सिधी महोदय की यह ‘चिड़िया का’ बाले प्रश्न को पूर्ण रूप से न समझे और जब सब टीचर हूँसे तो वह भेष और रही-सही लुढ़ि गुम हो गई । कपूर जी ने मौके को हाथ से नहीं जाने दिया, सिधी पर बिगड़े कि आप पोंगल गुश को ‘चिड़िया का’ क्यों कहते हैं । बस, इसी को लेकर और भी लोग उड़े और बातों का यह प्रभाव हुआ कि पोंगल वास्तव में समझ बैठे कि सिधी ने उनको ‘चिड़िया का’ बना दिया । कपूर जी ने कहा : “भाई बातें करना चाहिए, बहस हो, पर किसी को कुछ किसी का बनाना तो ठीक नहीं ।” सुनते-सुनते पोंगल उबल पड़े और सिधी से कड़क कर बोले : “चार दिन से यहाँ आए हो, यहाँ हमारे बाल पक गए और लगे गुरुओं

से गुरुआई करने । बड़े आए वहाँ से देसी चिड़िया मराठी भाषा । चिड़िया का तुम, तुम्हारा बाप, हम काहे चिड़िया का । देखो सिधीयऊ यह बताए देता हूँ, हमारे मुँह न लगो, नहीं ठीक कर दूँगा ।”

सिधी महोदय पहले तो शांत रहे, बहुत कुछ वार्ता वह समझ भी न पाए, पर इधर पोंगल गुरु बमकते ही चले गए । अंततोगत्वा गर्मी बहुत बढ़ गई, हाथा-पाई की नौबत आ गई और बीच-बचौबल न हो तो सिर-फुटौबल हो जाए । और पोंगल को यह बुरा लगा कि यहाँ वाले, उनके शहर वाले, उनको कहें तो कहें, अब ये बाहरी भी कहने लगे तो यह बरदाश्त नहीं करना है । क्रोध में वह सीधे प्रिसिपल साहब के पास पहुँचे । उस बक्त मिस्टर वाल, एक अंग्रेज, उस पद पर थे । रास्ते में पोंगल ने सोचा ‘चिड़िया का’ तो गाली ही है, मिस्टर वाल के आगे गाली निकालना ठीक नहीं । ‘चिड़िया का’ की अँग्रेजी सोच लिया कि यही कह देंगे और वाल साहब के कमरे में पहुँचते ही वे बोले : “हुजूर, एक फरियाद लाया हूँ ।”

मिस्टर वाल ने फरियाद सुनाने को कहा । तब पोंगल ने कहा : “हुजूर वह सिधी मास्टर हमको ‘आफ दि बर्ड’ कहता है । हुजूर, वह बड़ी खराब गाली है । हुजूर, उसको समझा दीजिए मुझे वह ‘आफ दि बर्ड’ न कहे ।”

वाल साहब ने जैसे-तैसे मामले को निपटाया । पर उसी दिन से पोंगल युरु ‘आफ दि बर्ड’ कहे जाने लगे । रास्ता चलते लड़के पीछे से कहें ‘वया पोंगल आफ दि बर्ड ।’ और, यह ‘आफ दि बर्ड’ तो ऐसा चिपका जैसा कोई और खिताब न



श्रांततोणत्वा गर्मी बहुत बढ़ गयी, हाथा-पाई की जोखत आ गई ।

चिपका था ।

पोंगल दुखी हुए । आखिर इन नामों से कभी भी छूट न मिलेगी क्या ? एक दिन अपने पड़ोसी बी. प्रसाद, भंगड़ सुल्तान, ऐंग्लो-मुस्लिम से वह राय ले ही बैठे । भंगड़ सुल्तान ने, जैसा मुझे बाद में पता लगा, अपने नाम के आगे इन दोनों विशेषताओं को स्वयं जोड़ा था । वह अपनी कुशाग्र बुद्धि के लिए प्रसिद्ध थे । उनका निश्चित दावा था कि जब वे चार तोला भांग छान कर निषट-निषटा कर बैठे हों, तब चाहे कोई शास्त्रार्थ कर ले, उसे वे निश्चित परास्त कर देंगे । वास्तव में वे अपने को शास्त्रार्थ करने वालों का सुल्तान मानते थे और चूँकि यह सलतनत उनको विजया देवी की कृपा से प्राप्त हुई इसीलिए वे अपने को भंगड़ सुल्तान कहने लगे । ऐंग्लो-मुस्लिम का खिताब भी उन्होंने खास मतलब से लिया था । हिन्दू हैं वे, इसलिए हिन्दुओं से उन्हें खतरा नहीं । रहे अंग्रेज जिनका राज्य था और मुसलमान जो पास ही तुरकाने में गहरी संख्या में रहते थे । हिन्दू-मुस्लिम दंगों के समय हिन्दू और मुस्लिम मुहल्लों की सरहद पर रहने वाले श्री बी. प्रसाद को विशेष खतरा था तो ऐंग्लो-मुस्लिम का खिताब लेकर उन्होंने एक तीर से दो शिकार किये । ‘ऐंग्लो’ से अंग्रेज उनको अपना समझेंगे, ‘मुस्लिम’ से मुसलमान उनको अपना समझेंगे, और वे सुरक्षित रहेंगे ।

ऐसी कुशाग्र बुद्धि वाले बी. प्रसाद के सन्मुख जब पोंगल ने अपनी समस्या रखी तो उन्होंने कहा, “शाम को

बताना जब विजया देवी सवार हों ।” शाम को सोचकर उन्होंने कहा कि शास्त्रों में प्रत्येक स्थिति पर काबू पाने के लिए साम, दाम, दंड, भेद का उपचार बताया गया है । अतः उन्होंने पोंगल से कहा : “तुम भैया पहले कुछ दाम बिगाड़ो, लौड़ों को चाट खिलाओ, फिर उनमें भेद डाल दो, एक की दूसरे से बुराई कर लड़वा दो और तीसरे डंडा लेकर स्कूल जाओ, भौका पाओ तो स्कूल के बाहर, अन्दर नहीं, नहीं तो मिस्टर बाल तुमको घोटकर पी जाएँगे, वह ऐस्तो बच्चा है, स्कूल के बाहर लौड़ों को दंड दो । दो चार छड़े जमा दो ।” पोंगल सन्तुष्ट हुए पर पूछा “भंगड़ सुल्तान, तुमने दाम, दंड व भेद की क्रिया तो समझाई पर साम की नहीं ।” इसपर बी. प्रसाद हँसे, बोले “पोंगल, गुरु ने यह सिखलाया है कि प्रिय से प्रिय शिष्य से एक भेद छिपा रखो । यह साम का भेद मैं नहीं बता सकता । फिर यह साम-याम तुम्हारे बूते के बाहर है और पहले तो यह तीन मंत्र चलाओ ।”

पोंगल इस मार्ग पर चले । मैंने इटारीगंज वाली सड़क पर उनके भारी-भरकम फुटबाल सरीखे शरीर को दौड़ाते देखा, जब उन्होंने किसी लड़के को पकड़ कर कहा “सरऊ, परसों तुमने हमको ‘आफ दि बर्ड’ कहा था, ले, ले” और उन्होंने दो तीन छड़े जमा दिए । मैंने उनको दाम भी खर्चते देखा । उन्होंने लड़कों को रेवड़ी खरीद कर दिया । गजक और सोहन हंलवा तक बाँटा और चटपटा भी खिला दिया ।

भेद कहाँ तक डाल पाए, सो मे नहीं समझ सका । कारण उनको चिह्नाने का क्रम तो वही पुराना बना रहा । हाँ नाना-



प्रकार, चकारी व जलेबी कम, 'आफ दि बर्द' ही अधिक चलने लगा था ।

पोंगल ने फिर अपनी दिवकरत ऐश्वो-मुस्लिम के आगे रखी । ऐश्वो-मुस्लिम ने फिर वही कहा कि शाम को विजया जब विराजे तब पूछना । पोंगल ने बैसा ही किया । सोच-विचार कर भगड़ा सुल्तान ने उत्तर दिया :

“पोंगल, संसार मे झगड़ा जर-जमीन और जोरु के लिए होता है । तुम्हारे मामले मे न जर है, न जमीन है, और तुम्हारी अस्मा तुल्य जोरु का स्कूल मे कौन सवाल । सो निश्चित तुम्हारा कोई झगड़ा नहीं है, तुम्हारे दिमाग का फिलूर है ।”

(१०३)

पोंगल निराश हुए। कुछ दिन बिगड़ते रहे, फिर कम बिगड़ने लगे, और अन्त में 'सबसे भली चूप' वाले उसूल पर आ गए। और अब उनको आश्चर्य हुआ कि उनको 'ग्राफ दि बर्ड' के खिताब से पुकारने वालों की संख्या भी कम हो गई।



पुराने

ब्रह्मन्त पंचमी के नहान का सबेरा था, मासी और बुग्रा से

पिछले दिन तय हो चुका था कि तड़के ही संगम नहलवा कर, अक्षयवट में पानी देकर, कोटलेश्वर को हाथ जोड़ते हुए ६ बजे के पहले घर आ जाएँगे, ताकि वे लोग कल्यानी देवी सप्ताह सुनने चली जाएँ, पर ८ घर पर ही बज चुके थे। भफट्टा में इक्का बुलाने जा रहा था, डेढ़ और बो रूपए सवारी ही गयी थी, कि रास्ते में जहाँ तरकारियाँ बिकती हैं वहीं पुराने बुदबुद से मखबन ले रहे थे। दिनों में जैसा मखबन मिलता है उससे विभिन्न चमकती फूल की थाली में रख्ले उस दूध जैसे सफेद चमकते मखबन पर से भीगा कपड़ा हटाकर बुदबुद पुराने को मखबन दिखा रहा था और भाव तै हो रहा था। भफट्टे हुए ही हमने आवाज दी “क्यों पुराने, गंगाजी नहीं गए?” चलते-चलते ही मैंने सुना,

राने ने कहा “यह है कि अब चले तो लौटते-लौटाती चार

बजे या पाँच, तो सोचा कि पाव भर मख्खन डाल लें, 'माइन्ड' को कुछ गुण ही करेगा।" और वे हँस दिए, वही पुराने की सुप्रसिद्ध, अनुपम, एक और अकेली हँसी।

पुराने उम्र में काफी बड़े हैं, पर आज तक उनके डबरे के किसी छोटे ने यह न समझा कि पुराने बड़े हैं। पुराने उनका नाम काफी पहले पड़ा, कब और कैसे, इसका ठीक पता नहीं। पर जब से हमने, और बहुत औरों ने होश सँभाला तब से वे पुराने ही हैं। सब ही पुराने कहते हैं। यहाँ तक कि उनके पिता जी को उनका बचपन का नाम नरोत्तम तज्जना पड़ा और वे भी उन्हें पुराने कहने लगे। उनके लड़के भी उनको पुराने कहते हैं।

उनके पुराने कहे जाने के सम्बन्ध को किस्बद्धती यह है कि वे बहुत बचपन में ही तैरने में भाहिर हो गए थे। वे जमुना जी पार कर दूसरी तरफ के खेतों में लगी ककड़ी तोड़कर खाते थे। दूर एक झोपड़े में पहरा देती इतमीनान से बैठी खटकिन उनको "दहीजरा का नाती", इत्यादि, रूपों से सम्बोधित करती हुई लकड़ी की चौली से मारने दौड़ती तो पुराने घड़ से जमुना में कूद गहरे में आ जाते। किनारे खड़ी वह खटकिन धारा-प्रवाह गाली देती, पुराने अपनी वही सुप्रसिद्ध हँसी हँसते, उसको दिखला-दिखला कर ककड़ी खाते। वह शान्त होने लगती तो वे एक दो जुमले बोल कर बुझती आग को धूत देने का काम करते, और गालियों का वह ग्रामोफोन फिर बोलने लगता।

पता नहीं कि उनका यह क्रम बहुत पुराना पड़ गया इस कारण वे पुराने कहलाए या वे बहुत पुराने बक्त में ही बड़े जबरदस्त तंराक होने की वजह से इस नामकरण को प्राप्त बने । यह निश्चित है कि उन्होंने टोले-मोहल्ले के हजारों नहीं तो संकड़ों को तेरना सिखाया । उनका क्रम यही था कि किसी भी नौसिखिया को वे गहरे पानी में उठा कर फेंक देते, वह घबड़ाकर बुड़कियां खाता, पानी पी जाता, और जब उसका बुरा हाल हो जाता तो वे उसे जरा-सा हाथ का सहारा देकर पानी में हाथ-पैर चलाना सिखा देते । और उनके शिष्य दो या तीन दिन में उनके साथ गहरे पानी में बीस-तीस हाथ तैर कर आ जाते ।

आस्तव में उनके इस पुराने कहे जाने पर और भी तरह-तरह की बातें हैं । कहाँ तक गिनाई जाएँ । वैसे उनकी पंसारी की दूकान है । पुश्टैनी दूकान है, पहले एक दर की थी और अब दो दरों की हो गई है । पीछे दो कोठरियाँ थीं, अंधा घुप्प, वै अब भी हैं कच्ची ही, बाकी दूकान पक्की हो गई है । बिजली लगे भी सालों बीत गए और जब लोगों ने सलाह दी तो पीछे की कोठरियों के बीच की दीवाल में एक भोकवा खोदवा कर वहाँ पन्द्रह कैन्डल पावर का बल्ब लगा दिया गया । दूकान पर भी एक ही बत्ती जलती है, केवल पच्चीस कैन्डल पावर की । धरों में ४० और ६० का बल्ब लगाने वालों को उनकी दूकान अँधेरी लगे और वे पुराने से कहें कि क्यों इतना पैसा बचाते हो, चालीस या साठ बाला लगाओगे तो बिजली का

खर्च कोई ऐसा ज्यादा नहीं बढ़ जायगा । तब पुराने की बातें सुनने लायक होती थीं । वे कहते :

“पैसे की बया बात करते हो । पैसे को हाथ-पैर की मैल समझता हूँ, मैल । हजारों पैदा किया और फूँक दिया, महाराज । हाँ, मैंने कोकोजम और दालदा नहीं खाया है । समझे । मैं कलेजा जलाने वाली चाय सबेरे उठके नहीं पीता हूँ । मैं खाता हूँ मक्कलन, धी, दूध, दही, अमृत । और, मैंने तुम्हारी इंगलिस नहीं पढ़ी, बन क्रिम टु बी नाइट्रिप्स यस, बिटिंग लियर दि फिन्स ।”

कहना न होगा, यह “इंगलिस” के आखिरी कुल शब्द पुराने ने गला ऐंठाकर कुछ अँग्रेजों जैसा ही बोलने का प्रयास किया, और तब हँसे, वही एक और अकेली हँसी ।

भतलब साफ है । औरों ने दालदा खाया और चाय पी, उनकी आँखें खराब हो गईं, पुराने ने धी, दूध, मक्कलन खाया, उनकी आँखें तेज हैं, पच्चीस बाले बल्ब से उनका काम चल जाता है । बास्तव में पुराने को अँग्रेजियत से बड़ी चिढ़ है । उनका साफ कहना होता था कि लोग बम्बे की टोटी का पानी पीने के बजाय पुराने जमाने की तरह घर-घर कुआं रखवाएँ, जैसा काशी के मकानों में आज भी पाए जाते हैं, और उसी के पानी से सब काम करें, नहाना, धोना, पीना, खाना, इत्यादि, तो अँग्रेज यहाँ से चले जाएँ, “कुएँ से पानी खीचने से कसरत होती है, कसरत । जरा दम चाहिए, यह नहीं कि बम्बे की टोटी खोली और लुप्प से मुँह लगा दिया”,

ऐसा वे कहते थे ।

सच तो यह है कि अँग्रेजी शासन पर, और उसी से सन्निहृद देश के स्वातन्त्र्य संग्राम और वम पार्टी इत्यादि विधयों पर पुराने की सदा निश्चित राय रही । सामान्यतः वे राजनीतिक चर्चा में कम पड़ते । पर उन्हीं के भकान से चार भकान छोड़ कर रहने वाले भट्ट जी अक्सर उनकी दूकान पर आ सामने पड़े स्टूल पर बैठ जाते । वे पेन्शनयाप्ता थे, लड़का कमासुत था, कोई चिन्ता न थी, अखबार काफी पढ़ते और पुराने से कुरेद-कुरेद कर राजनीतिक बातें करते । इच्छा न होते हुए भी पुराने को कुछ कहना ही पढ़ता । लखनऊ में कोई दरबार हुआ और वहाँ बड़े पटाके छुटे, उन पर बड़ा खर्च हुआ तो किसी अखबार ने उसकी आलोचना की । भट्ट जी उसी पर अँग्रेजों को खरी-खोटी सुना रहे थे तो पुराने ने कहा, ‘अरे उसका इकबाल है, रेल बना दी, बिजली लगा दी, पत्ता नहीं खड़कता महाराज उसके इशारे बिना । छोटे थे तो सुनता था कि पिपरौटी में दिन में भी बदमाश लूट लते थे, अब जहाँ चाहो जाग्रो, चोरों का डर नहीं, उसका इकबाल है, मुकद्दर है, तकदीर है, पटाका छुटाता है तो क्या ।’

पर भट्ट जी का गिल्ला-शिकवा बना ही रहता । एक दिन न रहा गया तो पुराने ने कहा : ‘अरे क्या कहते हो भट्ट जी, सब हमारा तुम्हारा कसूर है । अरे, वह सात समुन्दर पार से आया, उसे क्या मालूम कि तीरधाट कहाँ और भीरधाट कहाँ । यह तो हमने बताया, हमारे हिन्दुस्तानियों ने

बताया । अब जहाँ देखो वहाँ चुगी, नदी के पार जाव तो टिकस, इधर आव तो टिकस । उसे क्या मालूम कि सिरसा घाट कहाँ और इमिलियन कहाँ । हमने बताया । तो फिर काहे रोते हो । जैसा किया बैसा भरो । और फिर,

समरथ को नहीं दोष गुसाईं,

चाहे कूद पड़े भरसाईं ।”

और तुलसीदास पर यह अपनी चंग चढ़ा बे हँसे । फिर भी भट्ठ जी न समझे । समय बीता, आन्दोलन घट्टा-बढ़ता रहा, और भट्ठ जी उद्विग्न हुए कि आखिर स्वराज्य कब आएगा । शक्सर बे पुराने से यही सवाल करें । पुराने से एक दिन न रहा गया । बोल ही तो पड़े । कहा :

“भट्ठ जी स्वराज्य तो कब का मिल गया होता पर यह जो पेशन वाले हैं, इन्होंने ही उंगली अड़ा दी है । इन्हीं की बजह से स्वराज्य नहीं मिलता ।”

स्पष्टतः भट्ठ जी इस प्रत्यक्ष आक्षेप से खीभे, कुछ दिन न आए, फिर आए पर देर तक न बैठे, और अंतरा देकर आए । और, फिर पहले की तरह आने लगे । पुराने से उनको पुराना ही आदर मिला, पर राजनीतिक वार्ता अवश्य लगभग बन्द हो गई । सच तो यह है कि पुराने का प्रेमभाव ही ऐसा है कि वह अनायास सब पर असर डालता है । उनकी दूकान के नीचे ही सड़क पर दोनों तरफ और सामने वाली सड़क पर भी दूर तक अनेकों तरकारी वाले रोज तरकारी बेचने आते हैं । बहुतों का तो यह पुश्टैनी पेशा है । और पुराने की

सब इज्जत करते हैं, पुराने सबका खाल रखते हैं। उनके आपसी भगड़े पुराने निषटा देते हैं। कोई भी निवड़क अठन्नी और रूपए से लेकर सौ पचास रुपए उनके पास जमा कर सकता है और जब चाहे उसे घापस मिल जाता है। बिना लिखे-पढ़े उनको सबका हिसाब याद रहता है। उनको सबका नाम याद रहता है। और क्या कठिन है वे नाम ? वास्तव में मैंने पुराने से एक दिन तरकारी बालों और बालियों के नाम पूछे और एक साँस में वे सब सुना गए : फुलभड़िया, दुर्गा, दरणाही, चम्पी, दसुदिया, चिरई, शिवरजिया, बुधनी, डब-डबया, सुनरपाती, छोटकाना, बगड़, एगसिया, अनासपाती, भगना, हत्यादि ।

सुबह सात बजे उन्हें दूकान खोल देना, ऊपर ही वे रहते भी हैं, घारह-बारह बजे खाना खाकर एक घंटे भषकी लेकर दूकान पर आ जाना और फिर सात-आठ तक बैठना। आठ बजे तक वे चल देते हैं, लड़का और नौकर आध घंटे, एक घंटे दूकान देखकर बद्द कर देते हैं। यह उनका पुराना क्रम है। पर ७ या ८ बजे जब वे दूकान से उठे तो वहीं से उनके दिन का काम खत्म न समझा जाय। सच तो यह है कि उसी के बाद ही तो वे अपने दिव्य रूप में आते हैं। पंसारी की दूकान है, दिन भर तो लंगोट के ऊपर बनारसी लाल अंगौछे से काम चलता है। कसरती शरीर, गले में सुनहली सकड़ी, हाथ में दो अंगूठी मीना और पुखराज बाली और लंगोट पर वह लाल अंगौछा, यह तो उनका दिन का रूप है। पर रात को

दुकान से उठने के बाद वे निपटते-नहते हैं, बकौल उनके “मिजाज बनाया जाता है”, फिर वे निकलते हैं। और इस बक्त पुराने निराले ही जँचते हैं। बुराक धोती, घुटनों से कुछ ही नीचे तक। जालीदार बनियाइन, उस पर कलफ किया हुआ महीन मलमल का कुर्ता। कुर्ते और जालीदार बनियाइन के नीचे भलकती वह सुनहली सकड़ी। काली चमकदार फुलस्लीपर पत्ती लगी हुई। कमर पर, बनियाइन और कुर्ते के नीचे चमकता धोती के ऊपर कसके बैंधा लाल अंगौछा। उनके बालों ने सदा बैठने से इन्कार किया, खड़े किस्म के उनके बाल, काफी तेल लगा बढ़िया चमोली का, उन पर बढ़िया फैल्ट टोपी। टोपी से बाहर निकला उनका चमकता बाल माथे पर आया हुआ। और आँखें पुराने की निराली थीं ही। उन्होंने कभी किसी प्रकार का नशा नहीं किया, पर आँखें सदा नशीली-सी, चढ़ी हुई-सी, पुतलियाँ ऊपर के पलक से सदा एक चौथाई ढौंकी हुई। और भस्त चाल, धीरे से उठ कर धीरे से जमीन पर आने वाले पैर। रंग गेहूँ आ। गमकता हुआ इत्र, कान में एक फाहा खुसा हुआ। और गले पर एक सफा भवक लाल अंगौछा। पान खाए, पान से रचे ओंठ।

ऐसे चमकते गमकते पुराने जैसे ही घर से आते, बाजार घूमने, तो उनके दो तीन गण, एकजाई, टपटपवा, प्यरवा, उनके साथ हो लेते। रास्ते भर जै राम जी की होती। इस दुकान पर पान “लड़ाया”, उस दुकान पर “टिकान” दी और फिर बाजार निकलें। एकजाई, टपटपवा, प्यरवा, इनको सब

खबर रहती थी कि किसके यहाँ कौन मुजरा आज है । और, तब पुराने अपने मित्रों सहित कोठे पर जाते । और हर जगह उनका आदर था, हर कोठे पर उनकी पूँछ थी । उनके लिए सब दरवाजे हमेशा खुले थे । सब जानते थे कि पुराने को बस मुजरे और गाने का शौक है, उनका और कोई ख्याल नहीं है । “यार की यारी से मतलब, यार के फेलों से व्याकाम,” यह उनका जीवन-सिद्धान्त रहा है । पुराने दो, तीन, चार और पाँच रुपये तक पान पर बिगड़ते, धंटे दो धंटे की लैठक होती, और तब वे अपने गणों सहित घर बापस आ भोजन कर सो जाते ।

अपने इसी नित्य के बाजार के चबकर में पुराने की जो प्रसिद्धि हुई उसका मूल कारण तो उनका मृदुल स्वभाव ही है, पर एक खास स्थान ऐसे मौकों पर उनके मुख्यारविन्द से निकलने वाली शैरों को भी देना ही होगा । किसी कोठे पर पहुँचते ही वे एक बार बोले :

“कितने भौचाल गुजर जाते हैं दिलबर,
आप की नजर ऊँची से नीची होने तक ।”

एकजाई, टपटपवा और प्यरवा तो बाद के लिए रहते ही हैं, पर फिर चीजें भी पुराने कहते हैं, और फिर कहने का ढंग भी तो है । और उनके पास ऐसी चीजों का अगाध भंडार है, जो दिन को नहीं, रात को ही निकलता है । कहीं बैठे वे कुछ मुस्करा दिए तो बाइजी ने पूछा, “पुराने, क्या हँसी आई ।” पुराने ने ठंडी साँसें भरी, और बोले :

(११३)



“कितने भौंचाल गुजर जाते हैं विश्वर,
आप को नजर अंची से नीची होने तक ।”

“यह बेकसी का आलम, यह बबसी की दुनिया,
दिल जल रहा है, फिर भी हम मुस्करा रहे हैं।”
वाहवाही हुई, वारें दी गयी, और मुद्रिकल से वे समाप्त
हुई थीं कि पुराने ने जोड़ा :

किसकी सदाएं आई, किसने मुझे पुकारा ?

कोई मुझे बता दे, क्या वह बुला रहे हैं ?”

जैसा हम कह चुके हैं, पुराने की घटपि राजनीतिक
मसलों पर राध हमेशा रही, पर वह उससे सदा दूर ही रहना
चाहते थे, यहाँ तक कि राजनीतिक समस्याओं पर बात भी
उनको न जाँचती थी। पर सन् १९४२ के आन्दोलन से वे
काफी बदल गए। हुआ यह कि पुलिस को गोली से उनके
टोले का एक नवयुवक, रिक्ते में उनका भाजा मर गया।
उनको बड़ा क्रोध आया। हम कहना भूल गए, वे सात बजे
द्वाकान खोल देते थे, पर उसके पहले स्नान कर वे एक घंटा
सामने के ही महादेव बाबा के मन्दिर में शंकर भगवान की
सेवा करते। शंकर को रोज नहलाना, पुराना फूल फेंकना,
नया फूल बढ़ाना, इत्यादि, यह उनका नित्य का कम रहा
है। और अन्त में वे हाथ जोड़ रोज “शम्भो” से प्रार्थना
करते। प्रार्थना उनकी सीधी-सादी, सरल, काम से और
मतलब से भरी होती थी, यथा, “शम्भो, बौरहेनाथ, मेरी बहन
का बेटवा बीभार है, अच्छा कर दो, बगड़वा कहता था कि
खेत छिन गया है उसका खंत दिलवा दो, फुलभरिया का दुलहा
कहीं उसे छोड़ चला गया है, उसे बुलवादो”, इत्यादि, इत्यादि।

(११५)

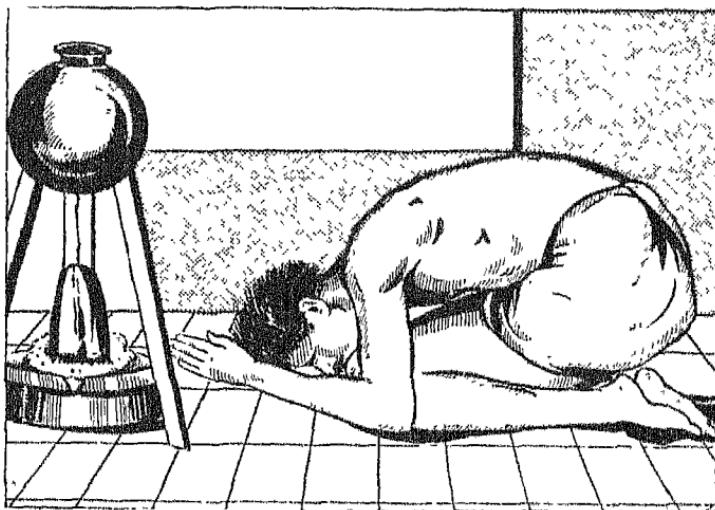
मतलब यह कि पिछले दिन वे जिस-जिस का दुःख-दर्द सुने उन सब को दूर करने की फरमाइश वे शम्भो से कर देते ।

पर सन् १९४२ के उस गोलीकांड के बाद उनकी प्रार्थना का रुख बदला । वे कहते सुने गये “शम्भो, बड़ा जुल्म हो गया, बड़ा अंधेर है, मुहल्ले के लड़के गोली से मर रहे हैं, तुम क्या कर रहे हो, यह बंदरसुहे कब तक छाती पर कोदों दरेंगे, इन्हें ठीक करो न”……इत्यादि । ऐसा कहते काफी दिन बीता पर “शम्भो” के कान पर जूँ रेंगती न दिखाई पड़ी तो एक दिन पुराने को भी क्रोध आ ही तो गया । वे कहते सुने गए “शम्भो, औरहेनाथ, रोज तुमको दुखड़ा सुनाते हैं पर कान में ठेठी लगा ली है क्या ? कि बस भाँग छाने, धतूरा पिए मस्त हो, हम लोगों की कोई सुनवाई नहीं है ? कहते-कहते मैं हार गया पर तुम जैसे बहराय गए हो । शम्भो, बलिया मे बड़ा जुल्म हो गया, तुम कुछ नहीं करते हो । अब ऐसा ही होगा ? अच्छा । तो फिर हम फूल नहीं बदलेंगे । जौन तुमको नहलवाय-नहलवाय रोज चमकाते हैं ससुर तौन अब बन्द करदेंगे । कलेजा नहीं है तुम्हारे ? देखते नहीं हो ? हमारी क्यों नहीं सुनते हो ? हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ? कौन कसूर हो गया है हमसे ? कुछ कहवो ?” इत्यादि ।

हम नहीं कह सकते कि पुराने की इन राजद्रोहात्मक प्रार्थनाओं की रिपोर्ट पुलिस तक पहुँची या नहीं । पर यह तो है ही कि इसकी कोई जाँच कभी न आई, यहाँ तक कि कोई खुफिया भी कुछ उनके बारे में पता लगाने, पूँछताँच

करने न आया ।

पुराने अब राजनीतिक समाचारों में गहरी दिलचस्पी लेने लगे । और वे यह मान बैठे कि हिटलर अजेय है, वह इन अंग्रेजों को ठीक ही कर देगा । लड़ाई के अन्तिम दिनों में रूजवेल्ट के मरने की खबर आई । पुराने को प्रसन्नता हुई, पर कम । दूकान के सामने से एक काँग्रेसी निकले तो पुराने से न रहा गया, बुलाकर कहा “भैया, तुम लोगों का जो माला फेरा जा रहा है, उसका असर होता तो है पर निशाना भैया चूक जाता है । निशाना जरा सां चूक गया, बजाय चांचिल के रूजवेल्ट जप लिया गया । अब की भैया इसी को जपो ।”



लड़ाई के आखिरी दिनों में ही एक दिन किसी अंग्रेजी

अखबार का विशेषांक निकला कि हिटलर ने हथियार डाल दिया, जर्मनी 'सरेंडर' कर रहा है। वही रात का वक्त था, वैसे ही पुराने बाजार निकले थे, मुझे देखकर जोर से बुलाकर पूछा, "भैया सुनते हैं जर्मनी सिलिंडर होगया।" पहले मैं न समझा पर बाद में फरियाया कि पुराने 'सरेंडर' को 'सिलिंडर' कह रहे हैं।" बातें मुल्लू पान बाले कीदूकान पर हो रही थीं। मैंने कहा कि अखबार में तो कुछ ऐसा ही छपा है। वे न माने, अखबार भंगवाया और अंग्रेजी में पढ़वा कर हिन्दी में माने करवाया। इस पर पुराने ने मुल्लू से कहा: "मुल्लू, यह माने यही देता है कि जर्मन ने जवाब दे दिया, पर कुछ माने बेमाने मालूम पड़ता है। कुछ लाइनों में गड़बड़ी है। अरे वह बड़ा योद्धा है, इन बन्दरमुहों को ठीक कर देगा मुल्लू, देख लेना।" इतने में उसी अखबार के दफ्तर के एक मुलाजिम ड्यूटी से वापस लौट रहे थे। उन्होंने खबर दी: "जर्मन के जवाब देने वाली खबर गलत है। अभी तो चल रही है अन्धाधुन्ध।"

पुराने उछल पड़े। वे बोले: "क्यों मुल्लू ! क्या कहा था ?"

मुल्लू ने उत्तर दिया: "अरे इसी लिए तो भाई जब मूँछों पर रेख भी नहीं जमी थी तब से ही पुराने की टाइटिल दे दी गयी है।"

और जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो वे बेहद प्रसन्न हुए। शायद उनको स्वतन्त्र होने की इतनी खुशी नहीं थी जितनी

(११८)

इसकी कि “शास्त्रो” ने उनकी आखिर सुन ही ली । और उस दिन उन्होंने “शास्त्रो” से काफी माफी भी मांगी कि तुमको गाली गुफता भी दे दिया था, नाराज न होना, देखो नहलाते बगैरह तो बराबर रहे, इत्यादि ।

पर इधर वे प्रसन्न नहीं हैं । वया स्वराज्य हुआ, इससे तो पहले अच्छे थे, ऐसा भी वे कह देते हैं । कहते हैं अब लोग उतने खुश नहीं दिखाई देते जितने वे पहले लगते थे । एक दिन उन्होंने कहा “आदमी आदमी सब कहते हैं, पर आदमियत नज़र नहीं आती ।” तो पछा गया कि इसका कारण क्या है, अब तो अंग्रेज चले गए, अपना राज्य है इत्यादि । इसके उत्तरस्वरूप उन्होंने एक बोहा सुनाया :

“कहैं भुशुंड सुनौ खगनायक,
सौ माँ अब नढ़वे नालायक ।”



नारायण और तारा चन्द्र

नारायण और उनके ताराचन्द्र से मेरी मुलाकात हाल की है इसलिए याद ताजी है। मुलाकात बहुत थोड़ी देर की थी और सम्भावना यही है कि फिर कभी वे और उनके ताराचन्द्र मुझे न मिलें। परं पह भी निश्चित है कि मैं उनको कभी न भूल सकूँगा, लम्ति-पटल पर वे अटल रहेंगे। मैंने सोचा कि यदि कोई विधाता है और मिले तो जरा उससे पूछूँ कि आखिर जिस मानव को पैदा किया उसको इतना दुखी लयों कर दिया? मुझे गांधी जी की याद आयी, वे कहते थे कि मेरी अभिलाषा है कि मैं हर एक के आँख पौछूँ। मैंने सोचा कि नारायण के आँसू पौछने वाला अब कोई इस संसार में है या नहीं?

बैसे नारायण से जितनी जैसी बातें हुईं उनसे मुझे यही लगा कि अब इनके आँसू बढ़ा बहेंगे, वे तो सूख से गए हैं। कहाँ

तक बहें ? हाँ, ताराचन्द के आंसू बह सकते हैं, और ऐसे कि नारायण के भी शायद वैसे न बहे हों ।

बात यह हुई । मद्रास से दिल्ली को जनता जा रही थी । गाड़ी काफी लेट थी और नागपुर स्टेशन पर जाने क्या चक्कलस खड़ी हो गयी कि इंजन तो सीटी दे, पर गार्ड साहब हरी झंडी न दिखावें और स्टेशन मास्टर साहब हरी लालटेन न दिखावें । एक घंटे के लगभग मामला अडिग रहा, तब आखिर एक सीटी कामयाब हुई और गाड़ी खिसकी । एक मिनट भी गाड़ी न चली होगी कि मैंने देखा कि प्लेटफार्म की दूसरी तरफ डिब्बे का जो दरवाजा था उस पर एक कटा हुआ हाथ आया । हथेली और उसके साथ लगभग दो इंच कलाई गायब थी और आखिर में मांस सूख जाने से कुछ-कुछ नुकीली-सी हो गयी थी । दूसरे ही क्षण एक साफा बंधा सर दिखाई दिया और फिर बाढ़ीदार चेहरा सामने आया । पलक मारते साबूत दाहिने हाथ ने गले में लिपटी काली-कीचट पोटली उतार कर डिब्बे के फर्श पर डाल दी । कटा हाथ इस तमाम दौरान कसके दरवाजे पर बाहों की मोड़ के सहारे अटका रहा । गाड़ी की रफ्तार तेज होती जा रही थी । मैं कह रहा था : “बाबा, जल्दी कर, बया कर रहा है ।” उधर दाहिने हाथ ने पोटली पटकने के बाद ही एक फटी-पुरानी निवाड़ से कसकर छाती में बैंधे बच्चे को, निवाड़ हीला कर, उठा कर फर्श पर हूल्के से डाल दिया । और, तब नारायण पलक मारते अन्दर आ गए, और ताराचन्द के पास पोटली के बगल में जमीन पर बैठ गए ।

देखते-देखते पोटली की छोटी बाली गाँठ खुल गई और उससे लाई निकाल कर नारायण ताराचन्द को खिलाने लगे। ताराचन्द लाई, या जो नाम नारायण ने बताया, 'मुरमुरा' बड़े स्वाद से चबाने लगा। डिब्बा काफी खाली था, पूरा या इन्हीं आदमी थे और वे सब डिब्बे की लकड़ी बाली दीवाल के उस तरफ पढ़े थे। किसी ने नारायण को न देखा।

ताराचन्द का रंग जहर कुछ खुला था। नारायण तो काफी साँवले थे। ताराचन्द दुर्बल था, उसका पेट काफी निकला हुआ था, जिसे कहते हैं कि तिली बड़ी हुई थी, जो मर्ज़ प्रायः उन्हीं बच्चों को होता है जिनको पर्याप्त व उचित भोजन, विशेषतः दूध नहीं मिलता। ताराचन्द के फूले पेट पर बोंबड़ी फूली थी और वह कंटोप लगाए था। कंटोप से उसका पूरा सर व कान और साथा लगभग भौंहों तक ढका था। कंटोप सफेद कपड़े की थी, पर बिलकुल काली हो गई थी। शायद भौंहों से न धोई गई हो।

जनता एकसप्रेस अब तेज रफ्तार पकड़ चुकी थी। पहियों की पटपट से जो ध्वनि निकल रही थी उसमें सम आ गया था। निधड़क, निडर, बृड़-प्रतिज्ञ किसी असीम शक्ति का अपने निर्दिष्ट पथ पर बड़े आत्म-विश्वास के साथ अग्रसर होते रहने का आभास हो रहा था। बाहर सूर्य अस्त हो चुका था, अंधकार अपनी बाहों में सृष्टि को समेट रहा था। उस बढ़ते अन्धकार में गमिन वृक्ष भागते नजर आ रहे थे। मुरमुरा लगभग मुट्ठी भर ही था, और नारायण उसे ताराचन्द को खिलाते जा रहे थे। डिब्बे में सन्नाटा था। मैं ताराचन्द

के साथ ही बगल वालों कुर्सी पर बैठ गया और उन दोनों की तरफ देखता रहा ।



मेरे बिगा कुछ कहे ही नारायण ने कहा : “नुरसुरा यह खा लेता है । आमले तक जाना है । माले का काम करता हूँ साहब । यही फूल-माला, तीन रुपये का यहाँ देने आदा था, यही काम है । माँ, ६ महीने का जब यह था, तब ही मर गयी, बच्चे की दजह से उदादा काम नहीं कर पाता हूँ ।”

मेरे पास कुछ भिठाई थी, कुछ केले थे, मैंने उसे ताराचन्द को और बढ़ाया । उसने हाश उठाया, पर बापस खींच लिथा । नारायण की ओर प्रश्नाचक दृष्टि से देखने लगा । नारायण ने कहा : “बाबू अब्दा है, ले ले”, और तब वह हँसा, मेरी ओर देखा और फिर हँसा, और भिठाई और

केले ल लिए। नारायण ने उसे लेकर अपनी पोटली पर रखे और मिठाई के टुकड़े तोड़-तोड़ कर ताराचन्द को खिलाने लगे। ताराचन्द को चीज भाई, उसने बड़े स्वाद से अपना मुंह चलाया, नारायण की ओर देखकर मूँड़ी और गर्दन हिलाई, हँसा, और फिर मेरी ओर देख वैसे ही किया, मुस्कराया, और फिर खाने में सस्त हो गया। मेरी ओर देखने पर अगर मैंने 'धूत' कह हँस दिया तो वह खिलखिला उठा।

नारायण से मैंने पूछा कि आखिर इस मुरमुरे से इसका पेट भर जायगा क्या? उन्होंने जवाब दिया: "ना साहब, दूध के लिए पैसे न थे कि नागपुर में पिला देता। माले का दाम भिला तब बक्त कम था, गाड़ी पकड़ने भाग आया। दूध नहीं भी दे पाता हूँ, तो मुरमुरा खिला देता हूँ। दूध ही न पाने से तो, देखो न बाबूजी, इसका पेट कैसा निकल आया है। लेकिन आज तो दूध का प्रबन्ध आमले में है।"

नारायण की आँखें बड़ी-बड़ी थीं, समझदारी झलकाती हुईं। शुद्ध खड़ी हिन्दी वह बोल रहे थे। काली, खूब काली गरिमा दाढ़ी थी। मैंने अवस्था ३० वर्ष अन्दाज़ी, पर जैसा बाद में उन्होंने बताया, वे ३५ वर्ष के थे। एक भूरे रंग का फटा मफलर था जो वह साफे के तौर पर सर पर और कानों पर लपेटे थे। एक लाल-सी आधी बांह की कमीज वे पहने थे, पर वह इतनी गंदी हो गई थी कि काली लगती थी। उसी कमीज पर एक काली कीचट वास्कट थी। उसमें सामने के दो जेब थे। नारायण का बदन कसदार लगा। हाथ

ऊपर नीचे होने पर भुजाओं की गुल्ली सदकती थी । उनका नीचे का वस्त्र एक बड़े ही फटे कपड़े के टुकड़े की लंगोट मार्का बँधी हुई कोई चीज थी । उसे आप लुंगी भी नहीं कह सकते, धोती होने का तो सवाल ही नहीं उठता । वे चप्पल पहने हुए थे, बड़ी टाइट । वह उनके पैरों में जमी थी, पर जरूर वह बाबा आदम के बक्त की लगती थी । रंग उनका काला था, चेहरे पर तेजी थी और आँखें चमकदार थीं ।

नारायण की और मेरी बात चलने लगी । वे अहमदबाद की किसी मिल में काम करते थे । एक साल की उनकी 'सर्विस' थी, कि मझीन से हाथ कट गया । कुछ हरजाना नहीं मिला । अहमदबाद से वह बम्बई चले आए । वहाँ जहाजों पर सामान ढाने-उतारने का काम उनके चाचा करते थे । वहाँ नारायण को अस्थय मिला, पर विपदा वहाँ भी पीछे-पीछे आई । उनके चाचा की झोपड़ी उसी जगह के पास थी जहाँ कुछ वर्ष हुए बम्बई में एक जहाज पर गहरा विस्फोट हो गया था । चाचा उनके चल बसे, यह यूँ बच गए कि उस बक्त कहीं चले गए थे । "मैं भी वहीं होता और खत्म हो गया होता तो अच्छा होता बाबू जी," ऐसा नारायण ने कहा ।

वहाँ से वह आमला आए । स्टेशन के पास रेलवे कर्म-चारियों का अहाता है, वहीं वह पड़े रहने लगे । जब कर्म-चारी ड्यूटी पर जायं तो घर ताकने का काम वे करने लगे । मुलाजिमों के ही कहने-सुनने पर, उन्हीं की बताई एक औरत से शादी कर ली । शादी के दो वर्ष बाद ताराचन्द का

जन्म हुआ । और, तब नारायण ने कहा : “क्या करेगा साहब । किसमत तो चक्कर खा गया । औरत बीमार पड़ी तो जान लगाकर दबा कराया । डाक्टर ने जो कुछ हमारे पास था सब ले लिया और औरत भी मर गयी ।”

मैंने कहा कि औरत मरने पर इस लड़के की देख-भाल कैसे की, बड़ी दिक्कत हुई होगी । नारायण ने जवाब दिया : “हां, दिक्कत तो ज़रूर हुई, बच्चा तो औरत ही पाल सकती है, पर वक्त आने पर सब करना पड़ता है साहब ।” फिर स्वयं नारायण ने एक और बात बताई : “बाबू, जैसा आप बोले अभी, वैसा ही रेलवे का बाबू लोग बोला था कि बच्चा पालने में दिक्कत होगी और इसी लिए वह वह बाबू लोग हमको एक औरत दूसरा दिया कि इसे रख लो, बच्चा पाल लेगी । पर मैं चला जाऊँ तो वह इसे मारे । मैंने उससे कह दिया कि तू इसे संभाल ले तो मैं तेरे को संभाल लूँ । पर तू इसे नहीं देखती तो मैं तेरे को नहीं देखता । वह चली गई । पर बाबू जो, क्या है, जब इसका मल-मूत्र संभाल लिया तो बाकी सब देख लेंगे ।”

मैंने पूछा कि तुम्हारे वहाँ कोई और है जिससे ताराचन्द हिला हो, कि कहीं जाना चाहो तो थोड़ी देर छोड़कर चले जाओ, जैसे आज ही नागपुर आये थे तो छोड़ आते । नारायण ने जवाब दिया : “ना साहब, हर वक्त चिपका रहता है । किसी के पास नहीं जाता । ठट्ठी, नहाने जाता हूँ तो बस थोड़ी देर कहीं बैठा देता हूँ । कहीं जाता हूँ तो साथ ले जाता हूँ ।” उन्होंने अपनी कमर में पड़ी निवाड़ दिखाई,

जिसे ही ढीली कर उन्होंने गाड़ी पर चढ़ते समय ताराचन्द को निकाल कर डब्बे के फर्श पर बैठाया था, कहा, “इसी में बाँध लेता हूँ, साहब !”

मुझे स्वभावतः दुख हुआ । मन ही मन नारायण के जीवट की तारीफ करने लगा । मैंने सोचा कि जो-जो इन पर बीत चुकी है वह मुझ पर बीती होती तो शायद मैं बरदाश्त न कर पाता और खत्म हो गया होता । अनायास ही मेरे मुँह से निकल पड़ा : “आखिर कब तक ऐसे रहोगे ?” नारायण ने सूखी हँसी हँस कर कहा : “व्या करूँ साहब, कोई डब्बी नहीं, कनस्तर नहीं कि फेंक दूँ, आत्मा है, देखना ही है ।”

हमारी और नारायण की बातें हो रही थीं । पर ताराचन्द खाने में तल्लीन था । नारायण ने खिलाना बन्द कर दिया था । एक-एक, दो-दो भुरमुरा उठा-उठा कर मुँह में रख रहा था, चबा रहा था । बीच-बीच में वह हमारी तरफ देखे । बड़ी चेतन्त उसकी आकृति थी, आँखों से समझ टपकती थी । और जब वह मेरी ओर देखे और मैं हँसूँ तो उसके दाँत भी दिखाई पड़े और वह जोर से हँसे । हँसने पर वह और भी अच्छा लगता था ।

मेरी और नारायण की बातें सुन-सुन कर डब्बे की लकड़ी बाली दीवाल के उस ओर बैठे एक वयोवृद्ध महोदय इधर आ गये । नागपुर से ही बे चहे थे और काफी सामान उनके साथ था । उनके साथ लम्बा घूँघट काढ़े एक महिला थी, जिनकी गोद में नारायण के इतना ही बड़ा बालक था । गाड़ी की दो बर्थों पर इन महोदय ने जमक कर कब्जा जमाया, गदा

बिछाया, बच्चे को दूध पिलाया, उसे सुलाया, वगैरह । इधर आए तो मुझे से पूछा : कौन है यह ? मैंने कहा कि कोई दुखिया है, आमले जा रहा है । तब उन्होंने कहा : “अरे साहब, ये सब बड़े खतरनाक होते हैं ।” मैंने उत्तर दिया : “अरे इस बिचारे का हाथ कटा है, यह क्या खतरा करेगा ।” इस पर मुझे जैसे बड़े विश्वास में लेते हुए उन वयोवृद्ध महोदय ने कहा : “अरे साहब, ये हथकटे, अंगकटे तो और भी खतरनाक होते हैं । इनका तो कोई भी ठिकाना नहीं ।”

मुझे तकलीफ हुई । मुझे लगा कि इन महोदय को देखो, अपनी जान की तो कंसी फिक्र है और अपने बच्चे का कंसा स्नेह कि आध घंटे, पौन घंटे उसी में तल्लीन रहे, पर दूसरे फी कोई परवाह नहीं । दूसरे सब चोर हैं । ये सब बातें वह जोर-जोर से कह रहे थे, और मुझे लगा कि बेचारे नारायण के हृदय पर क्या इन बृद्ध महोदय की बातों से चोट न होती होगी । और, मैंने देखा कि बड़े उदास से, सुनी अनसुनी कर, नारायण खिड़की के बाहर देख रहे थे । मुझे अपने एक मित्र की बात याद आयी, जिन्होंने अपने ही कुटुम्ब-खान्दान के बूढ़ों से खीभ कर एक बार कहा था : “साठ पार करने पर बुद्धि चरने चली जाती है । बस दुनियावी बुद्धि, स्वार्थ ही एक मात्र बचता है ।”

बृद्ध महोदय पुनः अपनी सीट पर जा बैठे । ताराचन्द का खाना अब खत्म हो गया था और उसे भाषकी आ रही थी । नारायण ने पोटली फिर बांध ली, अपने हाथ से छिप्पे का फर्श साफ किया, एक और पोटली से एक फटा-पुराना

चीथड़ा निकाल कर उसे बिछा दिया, अपनी जांघ की तकिया बनाई और ताराचन्द को थपथपा कर सुला दिया । बालक प्रगाढ़ निढ़ा में डूब गया ।

मैंने पूछा : “भाई, आमला तो सुनते हैं अच्छा शहर है । वहाँ कुछ धर्मर्थ संस्थाएँ होंगी, कुछ दानी रूपये दाले बड़े लोग होंगे । उनके पास नहीं गए, उनसे कोई सहायता नहीं माँगी ? आखिर माला तो ऐसे ही लोगों के यहाँ बना कर देते होंगे ।”

नारायण ने ऐसा जवाब दिया कि मैं मुँह लाकता रह गया । उन्होंने कहा : “अरे साहब, माला का दाम ही पूरा-पूरा दे दें, जल्दी से दे दें, चिरौरी बिनती न कराएँ तो बड़ी बात । वे क्या मदद देंगे ? उनका मैं कौन जगता हूँ ? उनसे तो अच्छे, बाबू जी, हमारे रेल के बाबू । कलेजा तो है, पैसा हो न हो । बड़े तो बस बड़े,

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर,
पंछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर ।”

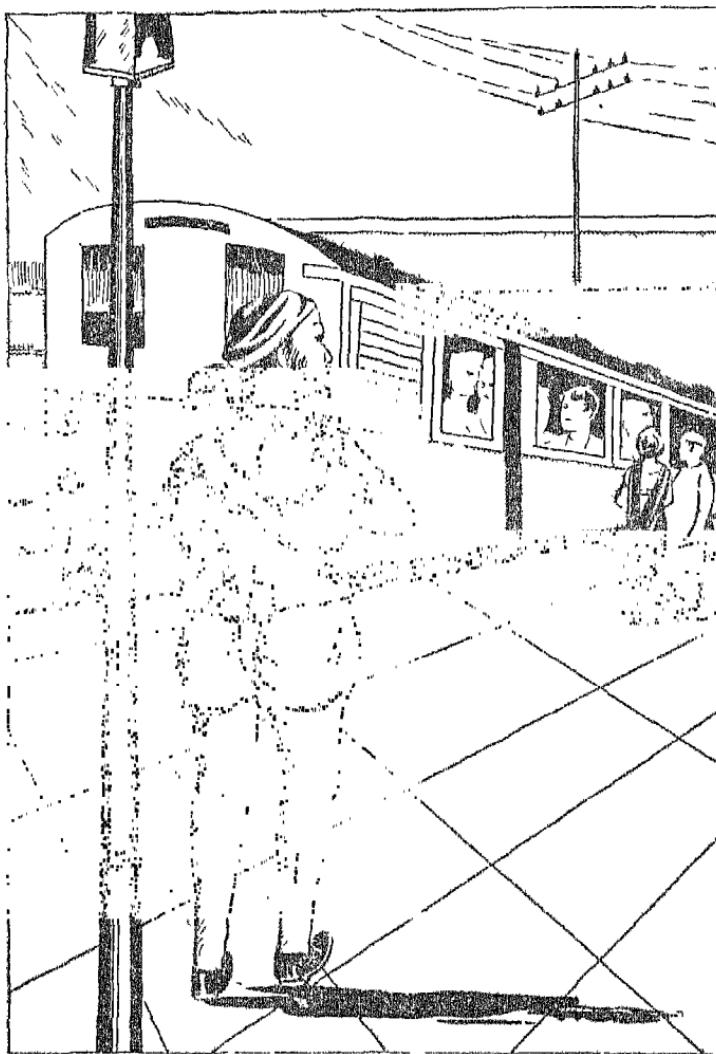
और, नारायण तब शांत हो गए । उनके चेहरे पर सदा ही छाई रहने वाली उदासी और भी गम्भीर हो गई । लगा कि उनका सूखा ओंठ और भी सूख गया है । बड़ी देर तक हम दोनों चुप रहे । फिर हमने कहा : “भाई, लड़के को इतना गन्दा क्यों रखते हो । साफ रखना चाहिये । देखो, कटोप कैसी भैली है । कभी नहलाते हो कि नहीं । सफाई रखने से बीमारी नहीं होती ।”

नारायण ने तुरन्त जवाब दिया : “नहीं बाबू जी, साफ

रखता वयों नहीं था । मार, साफ रखता था तो सटक गया, दुबला हो गया । एक औरत की दृष्टि इस पर हो गयी । यह बात एक बाबूजी ने पकड़ी । तब दृष्टि उतरवाई । तब ही बाबुओं ने कहा कि गन्दा रखना करो, नहीं तो हृष्टि हो जायगी । तो अब नहला तो रोज देता हूँ, पर कपड़ा मैला ही पहनाता हूँ । आठवें दिन कपड़ा धोता हूँ । जरा खड़ा होने लगे बाबू जी, तब बराबर साफ रखूँगा । बच्चों के ऊपर दृष्टि बचानी चाहिये ।”

नागपुर से गाड़ी को चले एक घंटा बीत चुका था । किसी छोटे स्टेशन पर गाड़ी रुकी । एक कन्डकटर गार्ड महोदय डब्बे में पथारे । देखते ही नारायण से भिड़क कर पूछा : “टिकट कहाँ है ? यहाँ कैसे आ गया ।” नारायण ने गिड़गिड़ा कर, हाथ जोड़कर उत्तर दिया : “साहब, आमले तक जाना है । माले के काम से आया था, यह बच्चा सोया हुआ है, आमले में इसे दूध पिलाना है ।” लेकिन गार्ड साहब कहाँ सुनने वाले, बोले : “बड़ा आदा है माले वाला । चल उत्तर, नहीं तो पुलिस के हवाले क : दूँगा ।”

मैने अपनी ओर से गार्ड साहब को मिलाते हुए कहा : “अरे चलने वीजिये बेचारे को, थोड़ी दूर तो है ही ।” गार्ड साहब ने मेरे दोस्ताना इरादों को समझा होगा । अपनेपन के ढँग से अपेजी में बोले : “अरे, ये सब बड़े चौर होते हैं । आप पैसेंजर और मैं कन्डकटर गार्ड हूँ । कुछ हुआ तो आप भी मुझे ही कहेंगे, और मेरे अफसरान तो मुझे ही दबायेंगे । इसका चला जाना ही ठीक है । और, तब उन्होंने नारायण से कर्कश



नारायण स्टेशन के टिमटिमाते लैप के नीचे किकर्तव्यविषुद्ध से खड़े थे,
ताराचन्द उनके कन्धे पर सो रहा था ।

(१३१)

स्वर में कहा : “उत्तरता है कि बताऊँ ।” नारायण शायद समझ रहे थे कि मेरे कहने का गार्ड पर असर हो रहा है, पर जैसे ही उन्होंने वह कर्कश ध्वनि सुनी, उन्होंने तुरन्त सोते ताराचन्द को कंधे पर लिया, अपने कटे हाथ के कंधे पर पोटली लटकाई और मेरी तरफ देखते हुए छिप्पे के बाहर चले गए । ताराचन्द तब भी प्रगाढ़ निद्रा में था । एक-दो मिनट बाद ही गड़ी चल दी । गड़ी की खिड़की से सर निकाल कर मैंने देखा, नारायण स्टेशन के टिमटिमाते लैंप के नीचे किंकर्तव्यविमूढ़ से खड़े थे, ताराचन्द उनके कंधे पर सो रहा था ।



मुन खलीफा

मुन खलीफा के प्राइवेट सेक्रेटरी का, जो अपनी कुशाग्र बुद्धि से खलीफा को प्रभावित कर उनसे डॉ काटजू की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं, एक पत्र प्राप्त हुआ। उन्होंने लिखा : “भोला की कुश्ती नहीं पहलवान से भरवारी के पास, कादीपुर आम में हुई। यह कुश्ती १००० रुपये की थी। भोला ने १८ मिनट में उसे मार लिया। जिस समय यह मल्ल-युद्ध हो रहा था, उस समय वहाँ का कोलाहल एकदम मरणावस्था को प्राप्त हो गया। सारे जन ऐसे थे कि मानो वे सब मर्गे हो गये हों। भोला के मारते ही खलीफा का हाल बेहाल हो गया। इतने प्रसन्न हुए कि उनके सजल नेत्रों से वर्षा होने लगी। और, हम सबों के हाल का क्या पूछना। भोला को गाजे-बाजे के साथ शहर में लाया गया। दूसरे दिन उनका जलूस निकाला गया। खलीफा जी का बड़ा

मिजाज बना है । पहले से अब उनका वजन भी बढ़ गया है । जिन्दगी में पहली भरतवा लंगोट पहन कर भोला और मोती पहलवान गुजरानवाला के साथ फोटो भी खिचवाया है ।”

भुन खलीफा के डा० काटजू उपाधि प्राप्त प्राइवेट सेक्रेटरी ने अपने पत्र में फिर खलीफा जी के निम्न शब्दों को अंकित किया और उसे बांधने का आदेश दिया है : “शहर में बड़ा खमखम है । ऊपर के हाल से आपको सब भालूम हो गया होगा । आपकी दया से बारहों अखाड़े में एकजाई रंग है । मेरा बारहों अखाड़े पर हमेशा से खम चला आया है । और, इन्हीं के ऊपर मेरा चैलेन रहता था । इसको मारने से बड़ा ठाट हुआ । मार्ग का एक रोड़ा था, अब जाकर यह रोड़ा साफ हुआ । अब अपना भंडा गड़ गया । अब आपका पहलवान शहर का भंडेनवीस पहलवान है । शहर ही न कहिये, दो-तीन जिले का भंडेनवीस है । दसमी के दिन हम जब जलूस में दलबल के साथ निकले तो भोला एक अजनबी आदमी-सा जान पड़ रहा था । बस, जनता यही कहती थी कि जिला-जीत भोला है । चारों ओर से यही आवाज सुनाई देती थी । ईश्वर ने हमारी इज्जत रख ली । बड़ा सवाब है । खुशी का ठिकाना नहीं है । सारी चिन्ताएँ हक हो गईं । यह जीत आपकी जीत है ।”

और, खलीफा ने अन्त में निम्न शब्द विशेष रूप से लिखवाएँ : “एक बात और कहना है । वह बात पिछले पत्र में मैंने लिख भी दिया था कि काम कोई नहीं है, फुरसत भी नहीं है । इसे डायरी में नोट कर लीजिए, नहीं पहले की तरह

भूल जाएं । और, अब इस समस्या का कोई हल बताइए ।”

खलीफा का स्नेह है, कृपा है, असीम श्रनुकभ्या है, और नहीं हम कौन उनकी समस्या हल करने वाले । दुनिया की समस्या वे हल करते रहते हैं । सच में भुनलाल मेरे मित्र, अंतरंग से अंतरंग मित्र हैं । मेरी सब उनके प्राणे खुली है, उनकी सब मेरे प्राणे खुली हैं । कहा जा सकता है कि दो शरीर एक प्राण है । और हमको उन पर पूरा भरोसा है, जितना भरोसा एक मनुष्य एक दूसरे पर कर सकता है । हमको विह्वास है कि हम दुनिया के किसी कोने में मुसीबत में हों, और खलीफा को खबर हो जाए तो उनकी लम्बी बाहें हमारे सहायतार्थ अवश्य पहुँचेगी ।

उच्च में कुछ बड़े हैं । बचपन में एक साथ हम महाजनी पाठशाले में पढ़ते थे । मैं दर्जा अ या ब ये था तो वे दर्जा तीन या चार में थे । उनकी कृपा और स्नेह तब से हमको प्राप्त है । मुझे याद है कि पापा ने एक दिन मुझसे पूछा : “कै नवां चूल्हे में लकड़ी”, और मैं जवाब न दे सका, तो सदैब की चाँति मेरी रक्षा को दोड़ने वाले अपने क्रमानुसार भुनलाल ने जोर से अपना हाथ उठाकर हिलाया कि वे जवाब देने को तैयार हैं । स्वभावतः मेरी ओर से पापा का दिमाग भुनलाल की ओर खिच गया और छाड़क कर उन्होंने उनसे पूछा : “कै नवां चूल्हे में लकड़ी, बताओ ?” पर भुनलाल जाने कैसे अटक गये । पापा को झोंध गया । लगभग आसीन बालकों के उस पाठशाले के बे एकमात्र शिक्षक थे और ‘लाल जूता कमर मझे चनकटा मुख भंजनम्’, यही उनका पढ़ाने का मुख्य

क्रम था । जब झुनलाल यह न बता सके कि कितने नवां चूल्हे में लकड़ी होती है, तो पापा उन पर टूटे । तड़ी-तापड़ा, रहपट-चटकना, यह झुनलाल को नापसन्द था और कब्ल इसके कि पापा प्रहार कर सके, उन्होंने तड़प कर कहा : “चूल्हे की लकड़ी-चकड़ी हम नहीं जानते, पर हौंचा-घौना तो याद है और पन्द्रह का पहाड़ा सुन लो ।” और, बिना साँस लिये वे सुना गये : “ पन्द्रह दुनी तीस, तियां पैताला, चौको साठ, पून पछत्तर, छब्बका नब्बे, सात पिछोत्तर, अहुे बीसा, नौ पैतीसा, छांगड़-भंगड़ डेढ़ सौ । ”

बड़ी तेजी से, और पहाड़े के प्रत्येक शब्द पर एक खास तरह से जोर देते हुए जब झुनलाल ने “छांगड़-भंगड़ डेढ़ सौ” की ललकार छोड़ी तो स्पष्टतः इस प्रत्यक्रमण के सम्मुख पापा को दबना पड़ा और चूल्हे में लकड़ी चाली बात पीछे रह गयी । यह सही है कि किसी और मौके पर, कुछ ही दिनों बाद, पापा और झुनलाल में हाथा-पाई की नौबत आ गयी, और तब उन्होंने शिक्षा और शिक्षकों से जो मुँह मोड़ा तो फिरआजीवन उसके डाँड़े न गये । पर यह भी सही है कि जो समय की सूझ और मौके पर तेजी झुनलाल ने पन्द्रह का पहाड़ा पढ़कर दिखाई, वह उनके संस्कार में है, ईश्वर प्रदत्त है, उनकी निज की विभूति है ।

पाठशाला छोड़ने के कुछ ही दिन बाद जुगूल चाचा ने विवाह कर दिया और १६, १७ की आयु प्राप्त होते-होते झुनलाल एक लड़की के पिता हो गये । जुगूल चाचा स्वयं दूकान पर काम करते थे, अपने लाला के विश्वस्त थे, भगवद्

भजन और परिवार-पोषण में ही तन्मय वे सदा प्रसन्नचित्त रहने वाले रहे। किसी से कभी किसी बात की उन्होंने अपेक्षा ही न की। कभी-कभी उन्होंने झुनलाल से जरूर कहा कि कुछ न करो बेटा तो बाप-दादों का खान्दानी काम, पुरोहिती ही करो, यजमान काफी हैं, कोई कमी न रहेगी। पर झुनलाल से यह काम कभी न हुआ। जैसा अब वह कहते हैं : “पुरोहित कर्म बड़ा अति मन्दा, वेद पुराण समृति कर निन्दा।” फिर स्वयं उन्होंने तुलसी के इस पद को समझाया भी : “वशिष्ठ को जब ब्रह्मा पुरोहित बना रहे थे तो वशिष्ठ ने यही कहा था। तब ब्रह्मा ने उनको समझाया कि घाटे में न रहोगे, भगवान् स्वयं दशरथ के यहाँ जाएँगे, उनकी सोहबत मिलेगी।” तो लोगों ने झुन खलीफा से कहा भी कि अपनी बात तो खुद ही काट रहे हों। उनका जवाब साफ था : “अरे तब सतजुग था, अब कलजुग है, और फिर हम ऐसे ही मस्त हैं, भगवान् की सोहबत न सही।”

वर्ष बीतते गये, कन्या बड़ी होती गयी, सन्तानें और भी हुईं। पर, झुनलाल की कमाई, उन्हीं के शब्दों में, ‘त्रस्वकम् जजामहे कोराष्टकम्’ ही रही। कह दिया जाए कि उपर्युक्त शब्द-रचना पूरी की पूरी उनकी ही है। जिस प्रकार वे इसका उच्चारण करते हैं, और उच्चारण करते समय जैसा उनका हाथ-भाव रहता है उससे अर्थ स्पष्ट होने में सन्देह नहीं रहता, यानी कमाई कुछ नहीं रही। वस्तुतः नवीन शब्दों की रचना और उसमें अर्थ डाल देने में वे सदा प्रवीण रहे। अपने सीमित अंगेजी ज्ञान का भी वह इस शब्द-रचना में इतनी

कुशलता से व्यवहार कर लेते हैं कि आइचर्चर्चकित रह जाना पड़ता है। उदाहरणार्थ, मुहल्ले की एक खटकिन उधर से निकली जिसका पति किन्हीं अपने ऐबों से पुलिस की निगाह में घढ़कर फरार हो गया तो उन्होंने “हसबैंड दि रांग साइड” कहकर इस बात की सूचना किसी को दी। उनको बताना था कि अमुक दो की आंखें चार हुईं तो उन्होंने इस विचार को “आईज दि फोर” कहकर व्यक्त किया। एक महोदय के नासिका-छिक्र कुछ असाधारण चौड़े थे तो झुनलाल ने कहा : “नोज दि वाइड”। किन्हीं दो के बीच होने वाली लड़ाई को उन्होंने मारपीट कभी कहा ही नहीं। उसके लिए उनका शब्द था “फैटिमफैटा”। वे “ठीक” शब्द कहना पसन्द नहीं करते हैं। कोई बात वह “ठीक” कहना चाहेगे तो उनके मुख से यही निकलेगा : “आठों गांठ कुम्मेव है।” बल्कि एक बार किसी ने उनकी इन शब्द-रचनाओं पर कुछ प्रश्न भी कर दिया तो उन्होंने यही जवाब दिया : “एक सीखाकारी, एक गैरसीखाकारी, एक डिप्लोमा, एक बेडिप्लोमा, याने अताई, याने अनाड़ी, अब जो चाहो सो समझ लो।”

वैसे जुगुल चाचा का सवाल कभी-कभी हो ही जाता कि ‘भैया, सरकार, बिटिएँ बड़ी हो रही हैं, कुछ होना चाहिए।’ झुनलाल ने भी फिर साफ ही कह दिया। कहा : “साढ़े साती सनीचर हैं हमारे इस वक्त। सब भगवान के हाथ हैं। जब साढ़े साती सनीचर गर्दभवाहन पर आता है तो गदहा बना देता है, थाली तक बिकवा देता है और कहीं अच्छे वाहन पर आया, मोरवाहन, सिंहवाहन, हस्तीवाहन,

तो हाथी पर चढ़वा देता है, स्पष्ट बनवा देता है।” तब जुगुल चाचा ने पूछा भी “तो मैया, सरकार का वाहन कौन-सा है?” झुनलाल का जवाब स्पष्ट था। उन्होंने कहा : “इतना ही मालूम होता तो फिर शंखट ही क्या थी।”

झुनलाल कुलीन पुरुष हैं। भाई-बिरावर, इधर-उधर अच्छी जगहों पर हैं। लोगों ने सलाह भी दी कि उनके पास आग्रो-जाओ, कुछ काम-धन्धा मिलेगा ही। पर झुनलाल से यह कभी न हुआ। अंतरंग मित्र के नाते मैंने स्वयं उनको यही सलाह दी। और अंतरंग मित्र भानकर ही उन्होंने अपनी साफ-साफ दिल की बात कह दी। उन्होंने कहा :

“भाई, भतीजा, भाजा, भाँड़, भांट, भटियार,
तुलसी छहों भकार से सदा रहो हीशियार।”

तुलसीदास के संदर्भ से कही गई इस बात का मैं या कोई और, क्या जवाब दे सकता था। काफी समय उनका मोहल्ले के शंकर भगवान के मन्दिर में ही बीत जाता। वह मन्दिर मुहल्ले का केन्द्र वैसे ही था, लोगों के भकान, दुकानें, सड़कें, सब उसी के अगल-बगल थीं। फिर झुनलाल के आकर्षक व्यक्तित्व के कारण वहाँ का आकर्षण और बढ़ गया। और वे भी शंकर भगवान के भवत होते गए। शंकर का फवकड़पन उनको सबसे अधिक भाया। उसी फवकड़पन पर वह मोहित थे। उन्होंने बताया कि एक बनारसी फकीर नाम के कवि हो गए हैं। उन्होंने ‘ब्रह्म-ज्ञान लावनी’ लिखा है और उसी की निम्न लाइनें झुनलाल को बड़ी प्रिय थीं :

घन घन भोलानाथ कि जिनके कौड़ी नहीं खजाने में।

तीन लोक बस्ती में बसाया ग्राप बसे बीराने में॥

दिवस, मास और साल बीते । मैं पढ़ लिख गया, वे बेपढ़े रह गए । मुझे बाहर घूमते रहने का अवसर मिला और वे उसी शहर और उसी मोहल्ले में बसे रहे । तो ऐसे मौके भी आए जब मेरी और उनकी मुलाकात महीनों और वर्षों तक न हुई । पर फिर जब कभी हम मिले तो अपने प्रति हमने उनका बैसा ही स्नेह पाया, या यों कहिए कि हर बार मुझे पहले से अधिक उनका अमूल्य स्नेह मिला । वह स्नेह मेरी धरोहर है । मेरे हाल-चाल के बारे में उनके उद्दिग्न प्रश्न, उनकी चिन्ता ने हमेशा मुझे बल प्रदान किया । और, जमाने-हाल पर उनकी टिप्पणियाँ, उस पर इस पर और सब पर उनकी पैसी राय, उससे हमारे भस्तिष्ठक को मानो भोजन मिलता रहा । जहां तक उनकी बात रही उन्होंने साफ कहा : “मैं तो बस इन्हीं भोलेनाथ की दरबारदारी करता हूँ । और किसी का दरबार नहीं किया । किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया । किसी का डबल का रवेदार नहीं हूँ । और, डबल कमाया नहीं । मैंने ड्यौढ़ी पुजाई, ड्यौढ़ीदार बने; मंगता नहीं हूँ, किसी से मांगने वाले की ऐसी-तैसी । और सब यहाँ मानते हैं । यही भोलेनाथ की दया है । और कोई मेरे मुँह नहीं लग सकता । किसकी हिम्मत है? मैं किसी का बुरा नहीं चेतता, किसी के लेने-देने में नहीं रहता, अपने काम से काम ।”

मैं उनके प्रखर स्वभाव को जानता हूँ । महाजनी पाठ-शाले के दिनों में स्कूली लड़कों से जो आए-दिन उनकी लड़ाई होती थी, उसकी याद मैंने दिलाई । वे हँसे, कहा :

“जमाना बीत गया । बाल पकने लगे हैं । लड़के-बच्चे हो गये । और, फिर किसकी हिम्मत कि मेरे मुँह लगे ।” तो मैंने पूछा कि क्यों ? तो उन्होंने फिर वही बनारसी फकीर की लाइनें सुनाई :

“हमारी आहों में वह असर है,
हवा के पैरों में छाले पड़ गए ।
दरख्त सूखे वियावान के,
हिरन जंगलों के काले पड़ गए ।”

वैसे, शंकर भगवान् के मन्दिर में उनका बैठना, और उनका वह जीवन ब्रेकार या व्यर्थ कदापि न रहा । मुहुर्ले-टोले के बच्चे थे । वे सब उनके गहरे मित्र हो गए । उनके साथ खेलना, उनसे मजाक करना, उनको हँसाना, उनसे बराबरी का व्यवहार करना, इन सब बातों ने झुनलाल को बच्चों में बड़ा लोकप्रिय बना दिया । मन्दिर के पास ही एक अखाड़ा था । कभी उस अखाड़े का बड़ा इकबाल था, बड़ा नाम था । वहाँ के पट्ठों ने बड़े-बड़े दंगल मारे । पर फिर वह अखाड़ा सुनसान हो गया । राय बैठ गई और झुनलाल ने उसका जीर्णद्वार किया । मुहुर्ले के लड़के जोर-कुश्ती करने लगे । सुबह से दोपहर तक झुनलाल वहाँ काटने लगे । स्वयं तो वे दमे के मरीज हैं । यह न समझा जाय कि वे ही लड़कों को जोर कराते थे । नहीं, दुर्बल शरीर, यह काम उनके बस के बाहर था । पर अखाड़े के सरगना वे माने-जाने लगे । जैसा कि अखाड़े के लड़कों ने ही मुझ से कहा : “अखाड़े के खलीफा तो भुन पंडित ही हैं ।” और, करीब दो

या तीन साल पहले जब मैं उनसे एक लम्बे अरसे के बाद मिला तो उन्होंने कहा था : “यह आपका अखाड़ा है, रजिस्टर्ड है, हमारे पास फारम रखवा है। एक सौ बीस रुपया गौरमिन्ट देती है। शहर में फर्द अखाड़ा और हमारे लड़के शहर के फर्द पहलवान। बंबे का पानी पी-पी कर डंड भारा जा रहा है। गिजा नहीं, दूध नहीं, मलाई नहीं, माल नहीं। क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता। आखिल, कब तक ऐसे चल सकता है ?” मैंने पड़ोस के एक शक्तिशाली और प्रभावशाली महोदय का नाम सुझाया, कहा : “उनसे कहो।” उन्होंने जवाब दिया : “आप ठीक कहते हैं, ला कहता है—‘सौ गोती, न एक पड़ोसी।’ और, हमने कहा, पर क्या ? वही, ‘भैंस के आगे बीन बाजे भैंस खड़ी पगुराय’, पानी मेरी बीन बजी, पर उधर सुनवाई नहीं। तो इसकी कुछ कार्यवाही आपकी पावर में हो तो करवा दीजिये।”

मेरी ‘पावर’ का उनका अनुमान बहुत बढ़ा-चढ़ा है। मैं लाख समझाऊँ पर वे नहीं मानते। बहुत दिनों बाद भैंट हुई थी। उनके अखाड़े की तरक्की देख तबियत प्रसन्न हुई। तब ही उन्होंने कहा था : “एक भोला मेरा पट्ठा चढ़ाई पर है। भोलेनाथ ने चाहा तो भंडेनवीस होगा।” अखाड़े पर काफी लड़के कसरत कुश्ती करते दीखे। मैंने पूछा भी कि इतने सब कहाँ से आए। उन्होंने जवाब दिया : “हाजिर मैं हुज्जत नहीं, गैर की तलाश नहीं।” और मैंने यह भी देखा कि सब उनको खलीफा ही कहते थे। मुझे बड़ी खुशी हुई। बड़ी इच्छा थी कि कुछ दिन और अपने शहर में रहूँ, उनका

साथ करूँ, उनका अखाड़ा देखूँ, उनके भोला पहलवान से बातें करूँ, पर काम पर वापस जाना जरूरी था, मन मसोस कर चला आया । फिर उनसे भेट होने में लगभग दो वर्ष का अर्सा बीत गया । पर इसी बीच उनको और उनके भोला की कीर्ति मुझ तक पहुँची । मैंने सुना कि गवर्नर्मेंट प्रेस का दंगल भोला ने मार दिया । और यह भी सुनने में आया कि वैसा दंगल जरा कम ही देखा जाता है । और यह भी सुना कि उस दिन भोला का और ज़ुन खलीफा का शहर में ठाट का जलूस निकला और उसी दिन नारा लगा : “खलीफों का खलीफा कौन ?—ज़ुन खलीफा ।”

स्वभावतः मैं उत्कण्ठापूर्ण हो गया । अवसर की तलाश होने लगी कि कैसे भौका मिले और अपने शहर जाकर उनसे मिलूँ । और, फिर भौका आ ही गया । मेरी गाड़ी शाम को पहुँची । सामान-वामान रख में करीब आठ बजे रात उनके अखाड़े पर पहुँच गया । अखाड़े की हवा दूसरी थी । बहाँ बिजली आ गई थी । एक सीलिंग फैन भी लगा था । खलीफा लंगोट के ऊपर अंगौङ्गा बांधे, और एक अंगौङ्गा गर्दन पर रखके अखाड़े की मेड़ पर बैठे थे । अखाड़े पर नल भी लग गया था और एक ज्वान स्नान कर रहा था । खलीफा के बाल छितरे हुए थे । ओठों पर पान की ललाई ने लकीर डाल दी थी । बाढ़ी कुछ बढ़ी-सी थी, तीन-चार दिन से शायद नहीं बनी थी । मस्तक पर सदा लगा रहने वाला लाल टीका चमक रहा था । सदा के दुबले-पतले, उनकी छाती की हड्डियाँ दिखाई पड़ती थीं । भुजाएँ भी लकड़ी ऐसी

ही थीं । चेहरा पहले की तरह ही कम भाँस वाला, कुछ चुच्चका था । टाँगें भी पतली थीं । जनेऊ शरीर पर पड़ा हुआ था । और आँखों में वही तेजी, वही भस्ती और वही पुराना मसखारापन भलक रहा था ।

मुझे देखा तो खुशी का बारापार न रहा । ‘आओ, आओ, आओ’—बस, यही रट लग गई । एक दो पट्टों को तुरन्त आवाज दिया कि भोड़ा लाओ । मैं जमीन पर बैठने लगा तो कहा : “देखिए, पोजीशन के खिलाफ बात नहीं होने दूँगा ।” न माने, भोड़े पर ही बैठाया । और आप पास में जमीन पर ही बैठे । मैंने अखाड़े की चहल-पहल देखी । काफी बड़ा मैंदान अखाड़े के साथ है । काफी ज्वान इधर-उधर दहल रहे थे । कुछ फूल के पौधे भी लग गए हैं । मेरे लिए चमेली का महकता फूल खुद तोड़कर लाए । बड़े आप्रह और स्नेह से मुझे दिया । एक कोने में एक ज्वान गा रहा था । उन्होंने बताया कि वही बनारसी फकीर की रचना है । लाइनें कुछ ये थीं :

एक सुरतिया में दो सुरतिया ।

मुझे आती है हँसी हजरते इंसान पर,
काम खुद खोटे करें कहें लानत शैतान पर ।

ईमान-हो-ईमान की कहता है,
हिन्दू है बुरा ना मुसलमान बुरा ।

‘हे’ से हिन्दू और ‘भीम’ से मुस्लिम बनें,
और मिला दो बोनों तो ‘हम’ बने ।

एक सुरतिया में दो मुरतिया,
जी हाँ, एक सुरतिया में दो मुरतिया ।

इतने में एक सुन्दर मृग उछलता बड़े प्रेम से उनके पास आ खड़ा हुआ । खलीफा उसे स्नेह से सोहराने लगे । कहा : “चार-पाँच दिन बाद मुझे पाया है । मुझे न पाकर बेकल हो जाते हैं ?” साँगे उसकी टूटी थीं । मैंने कारण पूछा । कहा : “कुत्ते ने हमला किया था । हमीं ने बचाया, नहीं कुत्ता इनको मार डालता । हमको पा जाते हैं तो खुश हो जाते हैं । और इनका ख्याल रखता हूँ, माल चभवाता हूँ । सच कहता हूँ, इनसे मुझे जिगरी मुहब्बत हो गई है ।” इतने में उनके प्राइवेट सेक्रेटरी जगतनारायण जी गुप्त आ गये । खलीफा ने आवाज दी : “आइये काटजू साहब, आइए काटजू साहब ।” मैंने कहा भी कि आखिर इनको काटजू साहब का नाम काहे दे



दिया । खलीफा ने कहा : “इनके दिमाग की बड़ी पावर है । क्या डॉ काटजू का ऐसा ब्रेन होगा । क्या बारीकी धरते हैं यह कि कुछ कहने की बात नहीं ।”

खैर, बातें होते-होते गवर्नरमेंट प्रेस के उस ऐतिहासिक दंगल की चर्चा आई । मैं उत्कंठित था ही, और बात-बात में सब तफसील मेरे सामने आ गई । खलीफा ने कहा : “हमारी लाग तो नहें पहलवान से है । पर वह हमेशा किनारा काटता है । सामने नहीं आता । अबकी भी चन्द्रमा को आगे कर दिया । तो भैने तो साफ कहा कि कुश्ती होगी तो मार-पछाड़ की होगी । हमको तो लड़ना था ही । चन्द्रमा कोई हल्का ज्वान नहीं । देखने में हमारे भोला से भारी-भरकम लगता है । आठ सौ रुपए की कुश्ती थी । बड़ी चिन्ता थी । हार जाते तो मर जाते । नो मनो दि डिफीट ।”

उनकी ग्रैंप्रेजी सुन मैं हँसा । ‘नो मनो दि डिफीट’ के अर्थ पूछे । उन्होंने कहा : “साफ है । हारेगे तो रुपया नहीं मिलेगा । पर रुपया तो हाथ-पाँव की भैल है । इज्जत का सवाल है, बात की बात है । जाड़े का दिन था । मेरा साँस का दौरा आ गया था, पर मस्ती आ गई थी । एक-एक दरबे में घुसकर ललकार आए थे । पाँच कोस की रोज परिक्रमा शुरू की । अपने शंकर भोलानाथ से शुरू करता था । बौरहेनाथ, दरवेशवरनाथ, नाग वासुकी, अलोपिन, हाट-केशवरनाथ, महाबीरन, सब निपटा कर फिर वहीं अपने शंकर भोलानाथ के पास आता था । बस, यही कहता था कि ‘भोलेनाथ, लाज तुम्हारे हाथ है ।’ सप्ताह बैठा दिया । चौबीस

घंटे पाठ होता रहा । साढ़े बत्तीस रुपया रोज पूजा पर खर्च होता था । गंगा जी को सबा मन दूध चढ़ाया जाता था । जुगल चाचा हाय-हाय करते हुए कह दिया कि बंगल तक न बोलो । और, फिर वे देखारे भी भाला फेरने लगे । ऐसी स्त्री ने सुखसागर और सुन्दरकांड का पाठ शुरू कर दिया । चाची भी गंगा-जमुना सब मना आई । मुहल्ले भर में घर-घर मानता-मनौती भाती गई, पाठ हुआ ।"

अन्त में वह ऐतिहासिक दिन आ गया । उस दिन भी बड़े तड़के उठ खलीफा ने पॉव कोस की परिकमा की । और फिर, उन्हीं के शब्दों में "पल-पुर्जे से लैस" वे गवर्नर्मेंट प्रेस भोला के साथ गए । "पल पुर्जे से लैस" वे कम ही होते हैं । पंप शू, बुरकि चुनी धोती, सिल्की कुरता, पश्मीने की शाल, फेल्ट टीपो, दाढ़ी बनी, लेल जगा, कातों में इच्छ वा फाहा, गले में भाला, हाथ में पान की डिबिया, कलाई में घड़ी—यह सब जब वे करते हैं तो वह हुआ "पल पुर्जे से लैस" । पहुँचे तो सबकी निगाह उन पर और भोला पर थी । और, वाह भोलेनाथ की लीला । भोला ने पलक मारते चन्द्रमा को पछाड़ दिया । खलीफा की खुशी का ठिकाना न रहा । उस कोलाहल के बीच वे खड़े हो गए । खड़े हुए तो काँछ खुल गई । बाएँ हाथ से काँछ खोंसते हुए, दाहिने हाथ को उठाकर धुमाते हुए धूम-धूम कर उन्होंने कहा : "कहाँ है नन्हे पहलवान ? एक बीड़े पान पर भोला नन्हे से लड़ने को तैयार है । हमारी बात कछुए की गर्दन नहीं, हाथी का दाँत है । साल भर मूँछ पर ताब रखकर कहा कि लड़ेगे, पर



“कहाँ है नन्हे पहलवान ? एक बीड़े पान पर भोला नन्हे से लड़ने को
तैयार है । हमारी बात कछुए की गर्वन नहीं, हाथी का पांत है ।”

अब गायब । नन्हे न लड़े तो बच्चू पहलवान के नहीं । हम एक बीड़े पान पर लड़ेंगे ।”

लोगों ने बताया कि वह अलौकिक दृश्य था । काँछा खोंसते हुए और हाथ धुमाते हुए खलीफा की आवाज सबों को कम्पायमान करने वाली थी । तभी तो गवर्नर्मेट प्रेस के मैनेजर ने आकर कहा : “झुन खलीफा, तुम्हारा दिमाग तो सप्रू साहब का दिमाग है ।” पर नन्हे सामने न आए । और तब बाजे-गाजे के साथ वहाँ से जलूस उठा । माले से लड़े-फंदे एक रिक्षे पर भोला गदा लेकर खड़े हुए और दूसरे पर झुन खलीफा । और, जहाँ भोला पहलवान की जय-जयकार हुई वहाँ उत्सुक जनता ने नारा लगाया :

“खलीफों का खलीफा कौन ?—झुन खलीफा ।”

उस दिन रात जुगुल चाचा ने कहा : “मैथा, सरकार, अब तो राजधानी मिल गई, अब तो कुछ होना चाहिए ।” खलीफा ने जबाब दिया : “हाँ, अब हो रहा है ।” मैने पूछा तो क्या हुआ ? खलीफा हँसे, कहा : “अरे, यहाँ होना क्या है ? वही नम्बकम् जजामहे कोराष्टकम् ।” जुगुल चाचा ने ही तो आदत बिगड़ी । जन्मभर बैठाकर खिलाया । और अभी जुगुल चाचा चले गए तो मुसीबत आ गई । सदा सेर चावल, सदा सेर दाल, आठा ६ सेर, आठ आने की तरकारी, तीन छटाँक घी रोज का खर्च है । पन्द्रह सेर गेहूँ, एक मन लकड़ी घर में रखवाया, चार दिन में उड़ गयी । बुरादा नहीं है । गृहस्थी में कोई सामान नहीं है, कहने का भतलब यह ।” एक मिनट चुप रहकर फिर खलीफा ने कहा : “और चाची

का हाल सुनो । साथू है, फकीर हैं, भीरापुर के चार खंडी वाले हैं, जब इधर आए तो हमारे दरवाजे ज़रूर आते हैं । और, घर में खाने को हो या नहीं, चाची उनको चुटकी ज़रूर देती है । एक दिन दौड़ीं देने तो हमने कहा भी—‘इन्हें खूब परचाय लिया है’ तो उन्होंने कहा : “तुलसी या संसार में सबसे मिलिए धाय, ना जाने किस भेस में नारायण मिल जायं ।” तो मुझे भी खीझ चढ़ी तो मैंने कहा—“हाँ जाओ, दिए जाओ, बैकुण्ठ से साक्षात् इन्द्र भगवान् तुम्हारे पास आ रहे हैं ।”

और फिर वे हँसे । हम भी हँसे । डॉ काटजू भी हँसे । मृग अब उनको छोड़कर चला गया । देर हो गई थी । मैं बिदा हुआ । दूसरे दिन वापस आना था । उसी के कुछ दिन बाद पत्र आया जो हम शुरू में दे चुके हैं । नन्हे को भी भोला ने मार दिया । खलीफा की एक तमन्ना पूरी हुई ।

और, अभी-अभी भोती पहलवान गुजरानवाला का इधर आना हुआ तो खलीफा ने संदेश भिजवाया । उनकी पुरानी इच्छा है कि मैं उनके साथ भरवारी से दो कोस उत्तर, कादीपुर के पास, जहाँ नन्हे को भोला ने पछाड़ा, साँदीपन ऋषि के आश्रम चलूँ, दो चार दिन रहूँ । गंगा के किनारे वह स्थल है । खलीफा का कहना है कि कृष्ण-सुदामा ने वहाँ शिक्षा पाई थी, और उसी के पास शृङ्खली ऋषि का आश्रम है जिनके दिए फल रानियों को खिलाकर ही राजा दशरथ को सन्तान जन्मी थी । खलीफा का यह पुराना तकाजा है । देखिए, कब भोलेनाथ पूरा करते हैं ।



उस दिन जब काफी दिनों बाद उधर से निकला, यही रात नौ या दस बजे, तो फिजां दूर से ही कुछ बदली-सी लगी । न तो वहाँ हाथ में महकते फूलों की मालाओं की छितनियाँ लिए वे चार-पाँच मासूम बच्चे दिखाई पड़े । मोटर भी नदारद थीं । उस जगह के सामने को सड़क पर नेत्रों को ठंडक पहुँचाने वाली निलास लिए जो नियन लाइट जलती रहा करती है वह भी गुम थी, और भाराष्ट्र प्रदेश के उस पनवाड़ी की टीप “पान बन्धारयस” भी न सुनाई पड़ी । समझने में देर न लागी । वोलगा बन्द था ।

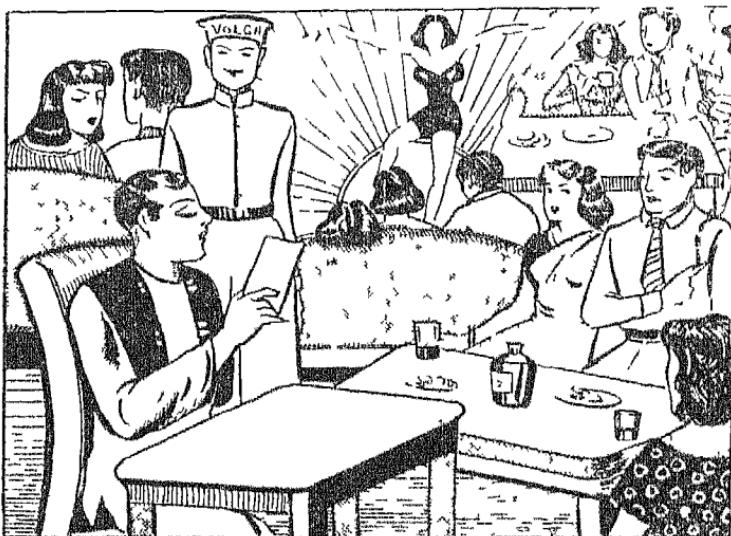
वोलगा के सामने से बहुत निकला हूँ, उसे बाहर से बहुत देखा है । अन्दर सिर्फ एक बार देखा, और उसी से ही शायद बाहर से ही उसे देखन की तबियत बनी रही । कई साल की बात है, वह खुला ही था । नाम कुछ अनोखा लगा, कुछ इच्छा हुई, यही शाम के सात के लगभग, अन्दर दाखिल हो

गया । बोल्या की लिवरी पहने बेयरे ने किवाड़ा खोला, पलक मारते दरबाजा बन्द हो गया । अन्दर बड़ी सुहवानी ठंडक थी, बाहर की तपती दुनिया से वहाँ बिलकुल अलग, निराली दुनिया लगी । खूब सजावट थी, आंखों को सुहावनी लगने वाली धीमी-धीमी बत्तियाँ जल रही थीं । सामने की दीवाल पर, उन्मुक्त मुद्रा में नाचती एक विदेशी नर्तकी का चित्र था, और उस चित्र को लाइट एफेक्ट द्वारा और भी आकर्षक कर दिया गया था ।

लिवरीदार दूसरे बेयरे ने कुछ खास निगाहों से भुजे देख एक टेबिल की ओर इशारा किया । मैं झपकता उसी पर बैठ गया । बेयरे की निगाह कुछ खटक रही थी, पर तुरन्त समझ गया । धोतीदार मैं ही वहाँ था, और मैं ही अकेला वहाँ फुट था, अन्य सब सज्जन कोट और पतलून में थे, और कोई फुट न था, सब जोड़े से थे । किसी मेज पर एक पुरुष और दो महिलाएँ, किसी पर दो महिलाएँ और एक पुरुष, किसी पर दो महिलाएँ और दो पुरुष, गर्जे यह कि बिना पुरुष के कोई स्त्री न थी और बिना स्त्री के कोई पुरुष न था । मैं अकेला निठला धोतीदार वहाँ डटा था ।

बेयरे ने एक खूबसूरत छपा कागज सामने रखा । कथा-कथा वहाँ खाने को मिलता है, इसकी सूची थी । पलटा । विचित्र-विचित्र खाद्य पदार्थ थे, विचित्र-विचित्र नाम, चब्ब, चोष्प, लेह्य, पेय, सब ही । क्या हमारे बाप दादों ने उनका नाम सुना होगा ? एक शीर्षक था: 'होर्स डॉबरस' । इस शीर्षक के अन्तर्गत खाद्य (या पेय ?) दर्ज थे : होर्स दी ओबरस

पेरीसियन, पाते दो फ़ा ग्रास, मशरूम मेरीन, स्पेनिश एग काकटेल, ग्रेप फूट काकटेल । एक दूसरा शीर्षक था : ‘पोटा



जेस एट कोसोमेस ।’ इसके अन्तर्गत लिखे थे : अस्पारागस, कोनसोम, क्रीम आफ चिकेन, नूडल, बोर्ड एला रूस, फ्रेन्च ओनियन । एक शीर्षक था : “फिश” ; उसके अन्तर्गत वर्ज था : फिश हॉलैन्डेस, फिश सिसिला, फिश अमरीकन, पाम्फेट ए ला मास्कोवाइट, ग्रिल्ड फिश चाट्यूब्रान्ड, बगैरह ।’ और, यह समक्षिए “कान्टीनेन्टल” नामक एक विशाल शीर्षक के नीचे । फिर उसके बाद एक विशाल शीर्षक था : “इन्डियन” और तीसरा था : “चाइनीज्” । इन “इन्डियन” और “चाइनीज्” विशाल शीर्षकों के नीचे भी विचित्र-विचित्र नामों के उपशीर्षक

थे, और इन उपशीर्षकों के अन्तर्गत तरह-तरह के नाम के चर्ब, चौष्ण, लेह्य, पेय विराजमान थे ।

जहां मैंने यह सूची पलटी, और पेरिस और स्पेन, फ्रेन्चा हालैन्ड और रूस, सिसिली, अमरीकन और मास्कोवाइट, सब को ही लिए-लेटे खाद्य दिखाई पड़े जिनका माने कुछ न समझ में आया, और उधर पतलूनधारियों को डटाडट भक्षण करते देखा, इधर बेयरे का आर्डर का इन्तजार देखा तो होश हिरन हो गया, छट्टी का दूध याद आया । मत ने कहा : कहां ला फंसा दिया भगवान् । गड़बड़ाहट में काँफी का आर्डर कर बैठा । वह शायद 'स्पेनिश एग काकटेल' जैसी वस्तु का आर्डर देने का बक्त था । बेयरे ने कुछ अचम्पे से देखा, काफी तुरन्त आ गयी । जैसे-तैसे जल्दी से खत्म किया, एक कप काँफी का बारह आने का बिल आया । मैंने एक की नोट धरा, बेयरा चवन्नी वापस लाया । इरादा उसे दो आने की टिप देने का था, सहगी चवन्नी देख उसे ही छोड़ उठ आया ।

सब ही साहबों की मेजों पर रंगीन पानी रखा था, साथ की महिलाएँ भी साथियों का साथ दे रही थीं । सिगरेट सिगार व पाइप का धुआँ भरा था । रंगीन पानी की महक और धुएँ की बूं ने बोलगा को असहनीय बना दिया था, में भाग निकला । उस ठंडी दुनिया से बाहर की तपिश अच्छी लगी । ख्याल आया कि बारह आने की एक प्याला काँफी की बोट गहरी रही, और जितने का खाया उसका तेंतीस प्रतिशत ब्रॉटर टिप देना भी खूब रहा । अबर हो गई ।

तब से बोलगा दिमाग में चढ़ा है । अन्दर फिर जाने की

हिम्मत न हुई, बाहर से देखते जो न भरा । चोलगा के सामने चौड़ी सड़क है । सड़क के इस पार विशाल पार्क है । हरी-हरी घास वहाँ बिछी है । चोलगा के ऐन सामने ही घास पर एक बेच है । उस बेच पर बहुत बैठा हूँ, रात नौ बजे, दस बजे, रात्रह और बारह बजे भी, गर्मी में और सरदी में, और बरसाती मौसम की सुहावनी बदली में ।

कभी कुछ 'बड़ों' की क्षुद्रता और छोटेपन पर हृदय ग्लानि-ग्रस्त था, चित्त में क्रोध और क्षोभ था, मन उद्धिरण और दुखी हो रहा था, जीवन निरर्थक और सारहीन लग रहा था, सोच रहा था कि बेटा, बहुत देख-सुन लिया यहाँ, अब लम्बायमान हो यहाँ से, तो टहलते घूमते उसी बेच पर बैठ गया । कभी पैर थके थे, हरी-हरी घास अच्छी लगी तो वहाँ जा जमा । कभी अपने साथियों-संगियों, अड़ोसियों-पड़ोसियों का दुख दर्द दे रहा था, तो यह सोचते उस बेच पर बैठ गया कि आखिर यह पारस्परिक ईर्ष्या, एक द्वारा दूसरे पर अकारण आक्रमण, यह असहिष्णुता कब तक चलने वाली है । कभी वर्ष के तुरन्त बाद, जब गगन में बादल तेजी से भागते जा रहे थे, सन्तप्त पृथ्वी जल पा हंस रही थी, पेड़ों की पत्तियाँ मुस्करा रही थीं, पानी में भीगी घास आकर्षक लग रही थी, चलती पवन आत्मा को शीतल कर रही थी, तो वहाँ बैठ गया ।

वहाँ धंटों बैठा हूँ । और, सामने चोलगा रहा है । बिजली की चमकती लाल रोशनी में लिखा "चोलगा ।" अन्दर से जूँड़ों में भाला बांधे खिलखिलाती नारियाँ निकलीं, मर्द निकले,

किसी ने “पान बन्यारय्स” से पान खाया और किसी ने नहीं, मोटरों पर चढ़ीं और वे हिरन हो गईं । लपलपाती चमकदार मोटरें आईं और भस्म से रुकीं, जोड़े निकले, और वे अन्दर दाखिल हुए । इनमें शुल्ह में गौरांग अधिक थे, पर बाद में गौरांगों की संख्या घटती दिखी, काले साहब और भेमों के ही हाथ भैदान रहा ।

और, उस बैच पर बैठे थके मन में विचारों की बाढ़े आई हैं । वहाँ बैठे राहुल का ख्याल आया, उनको “बोल्गा से गंगा” की याद आई । ख्याल आया कि हमारे आर्य पूर्वज भारत में आ स्थित होने के पूर्व कितना धूमे, कितना धूमे, और बोल्गा की तलहटियों में भी दिन बिताए थे । राहुल का देवली में साथ था । वहाँ उन्होंने “बोल्गा से गंगा” लिखना शुरू किया था, कुछ अध्याप सुनाए थे ।

और, देवली का ख्याल आते ही अपने मुहल्ले के लड़कपन के साथी, और देवली के सहबंदी रूपन की याद आई । रूपन अब संसार में नहीं हैं । लगभग ३० की आयु में वे इस संसार से चल बसे । ३० वर्ष की आयु में उनके बारह वर्ष जेल में बीते । उनको तपेदिक हो गया था । भारत स्वतन्त्र हो चुका था । उनको आशा थी कि उनका इलाज अब हो सकेगा । हमारे बुजुर्ग स्वर्गीय पं० भानुदत्त बैद्य कहा करते थे कि यक्षमा राजसी रोग है । सेवा चाहता है, गिजा चाहता है । पर रूपन को कहाँ सेवा मिलती, कहाँ गिजा मिलती ? वे इस संसार से चल दिए, भारतीय स्वतन्त्रता पर उनकी आहुति हो गई ।

देवली में रूपन गाया करते थे । देवली कैम्प राजनीतिक

दलों का अच्छा-खासा आखाड़ा था । क्या कम्प्युनिस्ट और क्या सोशलिस्ट, क्या एच. एस. आर. ए. और क्या आर. एस. पी., सभी वहां थे । खूब जगड़ते थे, कटाजुद्ध होती थी । परं फिर भी साथ रहते थे । उनके आपसी जगड़ों के ऊपर एक बात थी । वहां वे थे जिन्होंने सर पर कफन बाँधना स्वीकार किया था । वे वे थे जिन्होंने गुलाम देश के लिए कुछ करने को तरजीह दी, जिन्होंने मुलाजमत और कैरियर को लात मारी । चार कांटेदार तारों के पीछे बन्द वे बन्दी जरूर ऊब जाते थे, जरूर उनको घर की याद आती थी, जरूर वे अकते थे । हर ५० गज की दूरी पर मचानों पर संगीन लिए पहरेदार चौबीस घन्टे खड़े रहते थे । रात को वे हर १० मिनट के बाद गर्जते थे : ‘आलईजेल’ जिसका भतलब था “आल इज बेल” ।

ऐसी रातों में एक बैरक के बन्दी इकट्ठे बैठ जाते थे, सभी पार्टी वाले, और तब कुछ गाते थे । और रूपन भी गाते थे । रूपन की आवाज में दर्द था, पुकार थी, हृदय को छूने की ताकत थी । रूपन भी उन्सुक्त हो गाते थे । तब उनके नेत्र अक्सर पसीज जाते थे । और बोलगा के सामने उस बैच पर बैठे मेरे कानों में उनकी आवाज गूँजती थी । उनके गाने की एक लाइन होती थी :

“उसी दिन बोलगा तड़प उठी थी,
तुम भी गंगे धब तड़प उठो ।”

और लाइनें नहीं याद हैं । परं रूपन का वह गायन हम सबों को ऊँचा उठा देता था । उसमें भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के

दीवाने को पुकार थी । स्वातंत्र्य संग्राम का सैनिक भारतीय जनभानस की बेदना से ब्रह्मित हो, क्रान्ति का आहवान करता था । उसे रूसी क्रान्ति की याद आई । उसने सोचा कि रूस की बोलगा तब तड़पी थी, तो हमारी गंगा कब तड़पेगी । और, अपने हृदय की, अपने जीवन की संपूर्ण शक्ति से उसने कहा, उसने गंगा को याद दिलाया कि जैसे बोलगा तड़पी थी, वैसे गंगे तू भी तड़प उठ ।

बोलगा की वह सृति मस्तिष्क में है । और, उस बैच पर बैठे मैंने सोचा, कहाँ बोलगा की वह कल्पना और कहाँ यह सामने खड़ा बोलगा ।

और भी स्थान आया । रात को सात या आठ का बहत था । बोलगा से ही पचास या ६० गज की दूरी पर उस विशाल पार्क के बीच से जाने वाले मार्ग में एक आदमी मिला था । डरता-डपकता, ठहरता-ठिठकता वह सामने से आ रहा था, भौंचक ऐसा वह चारों तरफ देख रहा था, डरा हुआ-सा सहमा हुआ-सा । मुझे देख जाने क्या समझ उसने एक सवाल किया । वह जानना चाहता था कि जगजीवन बाबू का कौन-सा मकान है । उसकी आंखें धंसी थीं, गालों की हँड़ियाँ उभरी थीं । नेत्रों में बड़ा दर्द भरा था, बड़ी उदासी थी । साफ है कि वह कई दिनों का भूखा था । एक फटही फटही उसके शरीर पर थी । गुठने तक की एक धोती वह बाँधे था । एक गंदी-सी पोटली उसकी बाहों से लटक रही थी । पैर नंगा था । रंग सावला था । ओंठ सूखे थे । बिहार के किसी जिले का वह किसान था । उसने भोजपुरी भाषा बोली

थी । उसका खेत छिन गया था । उसे आशा थी कि जगजवीन बाबू उसका खेत विला देगे । उसी आशा से वह उनके पास आया था ।

उस बैच पर बैठे मुझे उसकी याद आई, जो अनाज पैदा करता है, और मुझे बोलगा के अन्दर जाते और बाहर आते स्त्री-पुरुष दिखे जो उसका पैदा किया अनाज खाते हैं । और एक और व्यक्ति की याद आई । वह भी बिहार का, वह भी जगजीवन बाबू की तलाश में, और लगभग वहीं मिलने वाला । वह साधू था । बड़े बड़े बाल धे, लटाएं लटक रही थी । आंखों में तेजी थी, चाल में आत्म-विश्वास था । पर गरीबी के चिन्ह सारे व्यक्तित्व से टपकते थे । साफ था कि उसे भर पेट खाना नसीब नहीं होता । वह भी दुर्बल था, नंगे पैर था । नीचे धोती थी, गर्दन पर एक कपड़ा लटक रहा था । छाती की हड्डियाँ दीखती थीं । पेट पीठ से चिपका था । एक मन्दिर में वह पड़ा रहता था, शाहबाद जिले में, किसी नदी के तट पर । आथ्रम बनाना चाहता था । जमीन मिल जाने की आशा थी । पर कहीं कुछ रोक पड़ी थी । और जगजीवन बाबू से मिलकर उसको हटाना चाहता था ।

मैंने सोचा कहा इनकी जिन्दगी और कहा बोलगा में धंसने और निकलने वालों की जिन्दगी । एक बार यही ग्यारह बजे रात, दो पुरुष और दो महिलाएं बोलगा से निकलीं “पान बन्यारय्स” के यहाँ पान खाया । कुछ डगमगाते पैरों मोटर की ओर से एक साहब बढ़े । सिगरेट जल रही थी । मोटर का दरवाजा खोल कुछ ठिठके । साथ की महिलाएं

खिलखिला रही थीं । कुछ सोच के महोदय पार्क की तरफ बढ़ दिए, जहां मैं बैच पर बैठा था । पैर हल्के डगमग थे, नीचे ही देखते हुए वे सड़क पार कर गए । बैच के सामने, जहां कुछ पेड़ों की झुरझट है, वह पहुँचे । सिगरेट मुँह में ही थी । प्रकृति की पुकार थी । ऐन हमारे सामने डटे मुझे देखा ही नहीं । स्पष्ट है रंगीन पानी ने दृष्टि धूमिल कर दी थी । कृत्य प्रारम्भ ही होने वाला था कि मैं दिख गया । कुछ खीझ से गये । 'हो गाश' ऐसा कुछ उच्चारण उन्होंने किया और ६ कदम बाएं को हट कर उन्होंने अपना कृत्य पूर्ण किया ।

बोल्गा के सामने लपलपाती मोटरें फुलस्पीड से आकर एक दम रुकती हैं । और, मोटरें वहां से रवाना भी फुलस्पीड से ही होती हैं । एक दिन एक महोदय दो संगिनियों के साथ निकले । झगड़ से मोटर पर बैठे और फुल पर वह तीर के माफिक भागे । और दूसरे ही क्षण, बोल्गा से सौ गज की दूरी पर मोटर में कर्रा ब्रेक लगाने की आवाज सुनाई दी । लगा जैसे कोई ऐक्सीडेंट हुआ हो । और फिर पलक मारते मोटर के तेज भागने की आवाज सुनाई पड़ी । हमने उठ कर देखा । भीड़ जमा हो रही थी । मैं भी दौड़ा । देखा खून से लथपथ एक व्यक्ति सड़क पर पड़ा है । साइकिल उसकी दूर छटकी पड़ी थी । दो चार पुलिस वाले भी आ गये थे । धायल साइकिल वाले का एक साथी दूसरी साइकिल पर था । पता लगा कि वह धायल व्यक्ति किन्हीं साहब का स्टेनोग्राफर है । रात देर तक काम खत्म करने पर फुर्सत पा घर जा रहा था । रंगीन पानी और दो संगिनियों



रंगीन पानी और दो संगिनियों वाले साहब फुलस्पीड की मोटर न संभाल पाए, सायकिल वाला कुचल गया, वे मोटर भगा ले गए।

बाले साहब फुलस्पीड पर चलने वाली मोटर संभाल न पाए, साइकिल वाला कुचल गया और उन्होंने मोटर न रोकी, उसे भगा ले गए। किसी ने कहा कि नम्बर नोट कर लिया गया है, किसी ने कहा नहीं।

हमने सोचा, कौन हैं ये बोल्पा के बाशिंन्दे। लम्बे अरसे तक बैठने से कुछ शकलें पहचान में आने लगीं। कुछ और तुफैल से इनमें से कुछ के सम्बन्ध में कुछ और जानकारी हुई। एक साहब हैं जो किसी भन्त्रालय में अफसर हैं। वह बाहर, विदेश किसी शिष्टमण्डल बगैरह में या स्कालरशिप पाकर जाना चाहते थे। एक मिनिस्टराइन के यहाँ पहुँचे, जिनसे कुछ रिश्तेदारी है। एक और आपसी रिश्तेदार कुछ विन पहले ऐसे ही किसी तुफैल में बाहर जा चूके थे, और इनसे इन विदेश यात्रा के लिए इच्छुक महोदय की कुछ बिगड़ी थी। मिनिस्टराइन को उन्होंने अपने फेवर किए जाने के लिए तर्क दिया। उन्होंने कहा कि जब वे अमुक शहर में अमुक पद पर थे तो हर मिनिस्टर को, उस शहर पहुँचने पर, सलाम करने जाते थे। पर जो साहब बाहर चले गए हैं वे ऐसा नहीं करते थे। लिहाजा उन मिनिस्टरों को सलाम बजाने वाले के साथ न्याय किया जाना चाहिए। मिनिस्टराइन कुछ तेज तर्रर थीं। उन्होंने जवाब दिया कि उनके वे सिफारिशी घोड़ा नहीं दौड़ाते। यह महोदय मुंह लिए लौट आए।

एक और बोल्पा प्रेमी का पता लगा। अभी वे इसी शहर में किसी उच्च डाक्टरी पद पर हैं। कभी वे छोटे शहर

में थे । एक बनिया के फोड़ा हुआ । उसको बड़ो तकलीफ थी । एक नश्तर का काम था, उसकी तकलीफ रफा हो जाती । पर, जैसा उन्होंने स्वयं बड़ी बहादुरी से एक अपने मित्र को बताया, उन्होंने उपरफट्टू दवा देकर फोड़े को बढ़ने दिया । दर्द बढ़ता गया, बनिया बेहाल हो गया । मरता क्या न करता, उसने डाक्टर साहब से कहा कि चाहे जैसे हो, चाहे जो खर्च हो, आराम दो । तब डाक्टर ने उससे ६०० ऐंठे और फोड़े पर नश्तर लगा दिया । और, यह किस्सा मुना वे हंसे । उन्होंने कहा : “ऐसे पैसे ठीक होते हैं ।” और, वह बनिया, उन्होंने बताया, अभी तक उनका अहसान मानता है, इधर आता है तो बढ़िया धी दे जाता है ।

ऐसे हैं यह बोलगा प्रेमी । यह “ऊंचे” हैं, यह “भद्र” हैं, यह “सम्भ्य” हैं और जैटिलमैन हैं । यह ऊंचे पदों पर हैं । इनके हाथ बहुत कुछ उन अभागों का निपटारा होता है जो दूर गांवों से खेत पाने की आज्ञा में भूखे-नंगे आते हैं, उन सायकिलस्टों का निपटारा होता है, जिनको खून से लथपथ कर ये मोटर ले भाग जाते हैं ।

हमने सोचा, सदियों बाद भारत उठा है । रूपन जैसे अनेकों की आहुतियों के बाद भारत उठा है । उन हुतात्माओं की तड़पन थी कि गंगा तड़पे, जैसे गोलगा तड़पे थी । गंगा तड़पी । पर क्या हमारी गंगा की तड़प बोलगा की तड़प से मद्दिम थी ? नहीं तो क्यों यह भूखे-नंगे दूरदराज के अभागे यहाँ भटकते आते हैं ? क्यों यह हृदयहीन, विलासप्रेमी, स्वार्थ प्रेमी, रंगीन पानी के आशिक मोटरें झुसाते धूमते हैं, खून

बहु भाग जाते हैं ?

जमाना बदल गया है, साफ है। भला पहले कहाँ दूर का किसान न्याय की आशा से यहा आता ? पर अभी जमाने में काफी सफाई बाकी है। इस जमाने की जो गतिविधि मौजूद हैं उनमें ये बोलगा-प्रेमी सब से आगे हैं। इनके लिए दुनिया नहीं, भारतीय मानव नहीं, भारत का प्राचीन इतिहास नहीं, आगमी भारत का चित्र नहीं। इनकी अपनी रूपयों की, मोटरों की, बंगलों की, रंगीन पानी की, संगिनियों की दुनिया है।

हमने सोचा, आखिर ऐसे हैं कितने ? छत्तीस करोड़ के देश में मुझी भर ही होंगे। पर हैं सब कुंजी पद वाले। ऊंचे अफसर, ऊंचे व्यवसायी और व्यापारी, ठेकेदार, डाक्टर या वकील। इनका बोलगा चला करता है, बड़े बड़े लपलपाते शहरों में शायद कभी बन्द होंगा। कब और कैसे, नहीं कह सकता। पर हमारे बोलगा का बन्द होना तो फिलहाल अस्थायी है। वहाँ जोरों से काम हो रहा है। अच्छा भला सुन्दर हाल तोड़-फोड़ दिया गया है। पेरिस के किसी डिजाइनर की देखरेख में उसको नवजीवन प्रदान हो रहा है। फर्श खोद कर नया फर्श बना है। ऊपर की पाटन को बिल्कुल बदल दिया गया है। हाल के अन्दर उन्मुक्त मुद्रा में नाचती नर्तकी को हटा कर एक विचित्र चुड़ा-मुड़ा बिना पत्तियों के वृक्ष की डालों का चित्र बना दिया गया है। दीवालों की सजावट भी बदली जा रही है। सामने के बरांडे की फर्श भी बदल दी गयी है। दिन

(१६४)

रात काम चल रहा है। बोलगा-प्रेमी श्रधिक दिन बोलगा से वंचित हो नहीं रह सकते। बोलगा फिलहाल बन्द है, पर वह शीघ्र खुलेगा। वहां मासूम बच्चे छितनियों में माला लिए भोटरों से उत्तरती रमणियों को माला बेचने के लिए घेरेंगे। वह महाराष्ट्र-पनवाड़ी किर “पान बन्यारयस्” की टीप लगाएगा। भोटरें भरभर से आकर रुकेंगी, और तीर की तरह वहां से रवाना होंगी। बोलगा फिलहाल बन्द है, पर वह शीघ्र खुलेगा।

